आवश्यक सूचना

कल्याणके पिछले अंक (मार्च २०२० ई०)-में गीता-भवन स्वर्गाश्रमके ग्रीष्मकालीन सत्संगकी सूचना प्रकाशित हुई थी। इधर अकस्मात् **कोरोना वायरस**के तीव्र प्रकोपके कारण विश्वव्यापी दैवीय आपदाकी चिन्तनीय स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

नवीन परिस्थितियोंके कारण चैत्र नवरात्रमें प्रस्तावित **श्रीरामचरितमानसके सामूहिक नवाह्न पाठका कार्यक्रम स्थगित** कर दिया गया था तथा यह व्यवस्था निश्चित की गयी थी कि सभी अपने-अपने कक्षमें बैठकर पाठ आदि करें।

वर्तमान परिस्थितियोंके अनुसार गीताभवनमें सत्संगका कार्यक्रम फिलहाल स्थगित कर दिया गया है। अतः सत्संग प्रारम्भ होनेकी आगामी सूचनातक गीताभवन आनेका कष्ट नहीं करना चाहिये।

सभीसे निवेदन है कि जागरूक रहकर सरकारद्वारा जारी दिशा-निर्देशोंका सावधानीसे पालन करें तथा अपने घरमें रहकर समयका सदुपयोग साधन-भजन एवं स्वाध्याय आदि करते हुए करें।

व्यवस्थापक—**गीताभवन, पो०-स्वर्गाश्रम—२४९३०४**

* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य १० रुपये

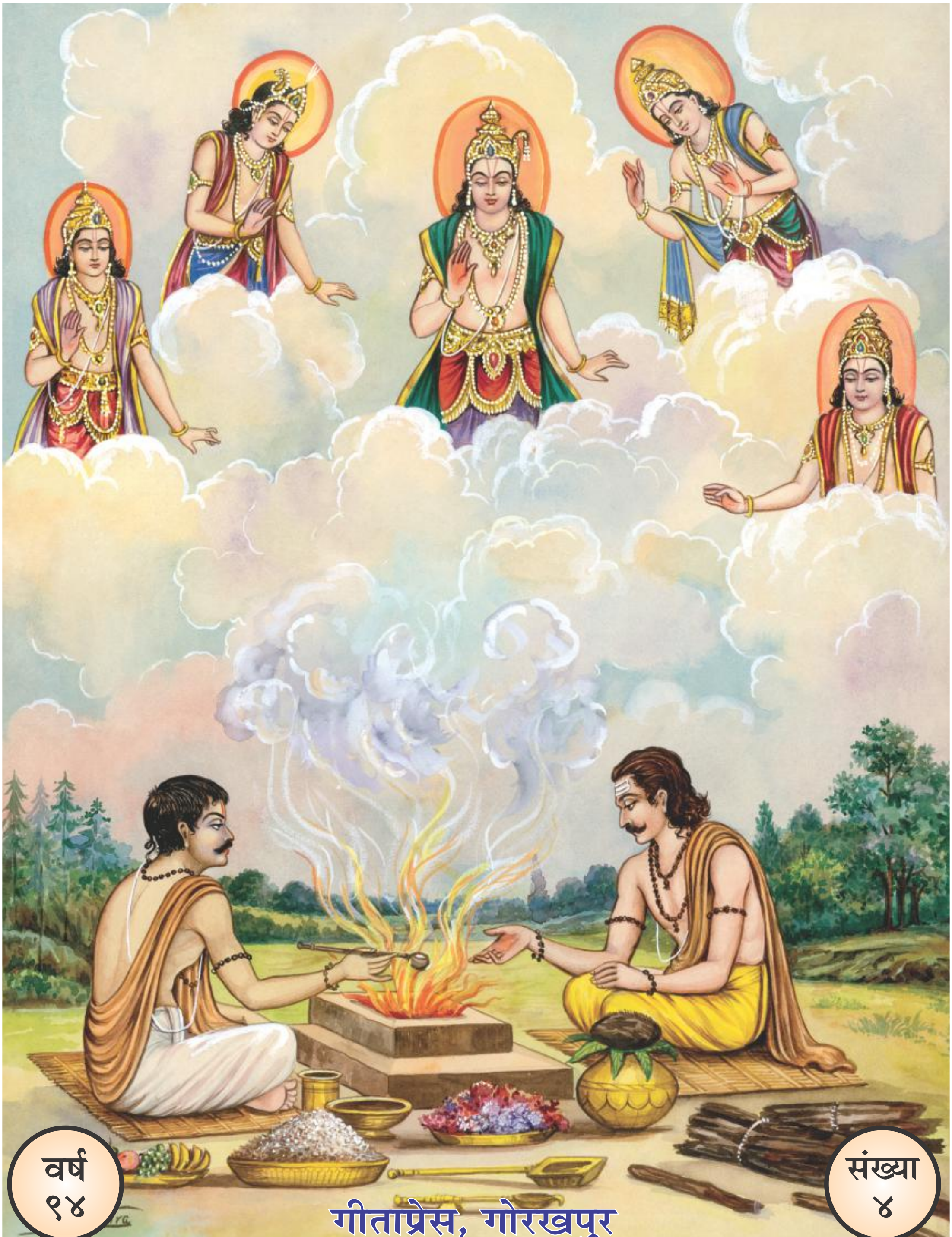

यज्ञानुष्ठानद्वारा देवोपासना

भगवती सरस्वती

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा।
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो प्राकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव॥

वर्ष ९४
गोरखपुर, सौर वैशाख, वि० सं० २०७७, श्रीकृष्ण-सं० ५२४६, अप्रैल २०२० ई०
संख्या ४
पूर्ण संख्या ११२१

भगवती सरस्वतीका ध्यान

आरूढा श्वेतहंसे भ्रमति च गगने दक्षिणे चाक्षसूत्रं वामे हस्ते च दिव्याम्बरकनकमयं पुस्तकं ज्ञानगम्या।
सा वीणां वादयन्ती स्वकरकरजपैः शास्त्रविज्ञानशब्दैः क्रीडन्ती दिव्यरूपा करकमलधरा भारती सुप्रसन्ना॥
श्वेतपद्मासना देवी श्वेतगन्धानुलेपना। अर्चिता मुनिभिः सर्वैर्ऋषिभिः स्तूयते सदा॥
एवं ध्यात्वा सदा देवीं वाञ्छितं लभते नरः॥

जो श्वेत हंसपर सवार होकर आकाशमें विचरण करती हैं, जिनके दाहिने हाथमें अक्षमाला और बायें हाथमें दिव्य स्वर्णमय वस्त्रसे आवेष्टित पुस्तक शोभित है, जो ज्ञानगम्या हैं, जो वीणा बजाती हुई और अपने हाथकी करमालासे शास्त्रोक्त बीजमन्त्रोंका जप करती हुई क्रीडारत हैं, जिनका दिव्य रूप है तथा जो हाथमें कमल धारण करती हैं, वे सरस्वती देवी मुझपर प्रसन्न हों।

जो भगवती श्वेत कमलपर आसीन हैं, जिनके शरीरमें श्वेत चन्दनका अनुलेप है, मुनिगण जिनकी अर्चना करते हैं तथा सभी ऋषि सदा जिनका स्तवन करते हैं—इस प्रकार सदा देवीका ध्यान करके मनुष्य मनोवांछित फल प्राप्त कर लेता है।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,००,०००)

कल्याण, सौर वैशाख, वि० सं० २०७७, श्रीकृष्ण-सं० ५२४६, अप्रैल २०२० ई०

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१- भगवती सरस्वतीका ध्यान	३
२- कल्याण	५
३- यज्ञीय संस्कृति [आवरणचित्र-परिचय]	६
४- भगवत्प्राप्तिकी साधनामें आत्मनिवेदनकी भूमिका (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	७
५- सुखका उपाय (श्रद्धेय सन्त श्रीमोटाजी, नाडियाद-गुजरातवाले)	१०
६- तीर्थसेवन कैसे करें? (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	१२
७- विनय-प्रार्थना [कविता] (डॉ० श्रीसतीशजी चतुर्वेदी 'शाकुन्तल')	१४
८- नाम-स्मरण (समर्थ सद्गुरु श्रीब्रह्मचैतन्यजी महाराज गोंदवलेकर)	१५
९- छः महीनेमें ब्रह्मप्राप्तिके साधन	१६
१०- शरीर और संसारको अस्थिर मानो [साधकोंके प्रति] (ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	१७
११- आनन्दभूमि वृन्दावन एवं कृष्णका वेणुगीत (पद्मश्री प्रो० श्रीअभिराज राजेन्द्रजी मिश्र)	१९
१२- श्रीनारदजीका अभिमान-भंग [बोधकथा]	२४
१३- ईश्वरका बोधक शब्द 'प्रणव' (डॉ० श्रीइन्द्रमोहनजी झा 'सच्चन', पी-एच०डी० (आयुर्वेद), डिप्लोमा इन योग)	२५
१४- संत-वचनामृत (वृन्दावनके गोलोकवासी सन्त पूज्य श्रीगणेशदासजी भक्तमालीके उपदेशपरक पत्रोंसे)	२७
१५- प्रेममें प्रसन्नता (पं० श्रीचन्द्रभालजी ओझा)	२८
१६- यह सच्चा या वह सच्चा? (श्रीलालजी)	३१
१७- सिद्ध शक्तिपीठ देवीपाटन (श्रीचरणजीतजी 'चन्द्रेश')	३३
१८- आबाल ब्रह्मचारी बालागुरु षडानन्दजी महाराज [संत-चरित] (पं० श्रीशिवप्रसादजी शर्मा)	३६
१९- शंख और घंटा-ध्वनिसे रोगोंका नाश (श्रीयमुनाप्रसादजी)	३९
२०- प्रभुमें विश्वास कैसे बढ़े? (ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)	४०
२१- गायके चरनेमें रुकावट डालनेके कारण नरक-दर्शन	४१
२२- साधनोपयोगी पत्र	४३
२३- कृपानुभूति	४५
२४- पढ़ो, समझो और करो	४६
२५- मनन करने योग्य	४९
२६- 'आचारः परमो धर्मः' [**—सम्पादक**]	५०

चित्र-सूची

१- यज्ञानुष्ठानद्वारा देवोपासना	(रंगीन)	आवरण-पृष्ठ
२- भगवती सरस्वती	(,,)	मुख-पृष्ठ
३- यज्ञानुष्ठानद्वारा देवोपासना	(इकरंगा)	६
४- अष्टावक्र-जनक-संवाद	(,,)	३२
५- सिद्ध शक्तिपीठ देवीपाटन	(,,)	३३

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

एकवर्षीय शुल्क ₹ २५०

पंचवर्षीय शुल्क ₹ १२५०

विदेशमें Air Mail शुल्क — **वार्षिक** US$ 50 (₹ 3,000), **पंचवर्षीय** US$ 250 (₹ 15,000) — Us Cheque Collection Charges 6$ Extra

संस्थापक—**ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका**

आदिसम्पादक—**नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार**

सम्पादक—**राधेश्याम खेमका**, सहसम्पादक—**डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़**

केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : **gitapress.org** | e-mail : **kalyan@gitapress.org** | ✆ **09235400242 / 244**

सदस्यता-शुल्क—**व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।**

Online सदस्यता हेतु gitapress.org पर **Kalyan** या **Kalyan Subscription** option पर click करें।

अब 'कल्याण' के मासिक अङ्क gitapress.org अथवा **book.gitapress.org** पर नि:शुल्क पढ़ें।

कल्याण

याद रखो—धन संसार-निर्वाहके लिये आवश्यक है, परंतु उसको इतना आदर कभी मत दो कि जिसमें वह इष्टदेव या भगवान्‌के आसनपर अधिकार कर ले। धनका गौरव उसके परपीड़ानिवारणार्थ किये जानेवाले त्यागमें है, न कि अनावश्यक संग्रहमें। धनका यथायोग्य सदुपयोग करो—उसके द्वारा सुयोग्य पात्रकी पूजा करो, परंतु धनकी पूजा कभी न करो।

याद रखो—धन मनुष्यकी सुख-सुविधाके लिये है, उसे परेशान करनेके लिये नहीं। जिस धनसे मनुष्य एक-दूसरेकी भलाई करता है, वही धन सार्थक है। धनको मनुष्यका सेवक बनकर रहना चाहिये, स्वामी बनकर कदापि नहीं।

धन पाकर मनुष्यको सौभाग्य प्राप्त हुआ है या दुर्भाग्य, इसका पता धनके व्यवहारसे लगता है। यदि धन धर्ममें सहायक है तो वह मनुष्यके लिये सौभाग्य है और यदि पापमें सहायक है तो दुर्भाग्य है। याद रखो—धन हो जाना ही सौभाग्यका चिह्न नहीं है।

याद रखो—जो धन अन्यायमार्गसे नहीं आता, अपने हकका और अपनी मेहनतकी सच्ची कमाईका आता है, वही धन धर्ममें सहायक होता है। छल और चोरीसे या असत्य और अन्यायके आश्रयसे जो धन आता है, वह तो पापबुद्धि पैदा करके पाप ही बढ़ाता है।

धनको सेवापरायण बनाना चाहिये, भोगपरायण नहीं। और जो धन केवल संग्रह करनेके लिये ही आता है, वह तो जैसे गढ़ेमें इकट्ठा हुआ बिना बहता जल सड़कर सूख जाता है, वैसे ही वह धन भी गंदगी फैलाकर अन्तमें सूख जाता है। सूखे जलकी जमीनमें दरारें पड़ जाती हैं, वैसे ही यह सूखा धन भी हृदयको विदीर्ण कर डालता है।

धनमें कभी आसक्ति मत होने दो तथा न कभी उसे अपनी चीज समझो। जिसका धन है, उसीकी सेवामें उदारता तथा दक्षताके साथ निरन्तर खुले हाथों लगाते रहो।

धन उपार्जन करो, पर धनका लोभ मत करो। लोभ पापका मूल है। जिस मनुष्यके मनमें धनका लोभ उत्पन्न हो गया है, उसका प्रयत्न करनेपर भी पापसे बचना बहुत कठिन है।

याद रखो—धनको ही इष्ट माननेवाले धनियोंका, ऐसे धनियोंके आस-पास रहनेवाले उनके संगियोंका और धन-लोभियोंका संग मत करो। उनका संग बुद्धिमें भ्रम पैदा करके धनका लोभ जाग्रत् कर देगा और तुम्हें गहरे पापके कीचड़में ढकेल देगा।

याद रखो—धनका अभिमान बड़ी बुरी चीज है। धनाभिमानी लोग माता-पिता, गुरु, साधु, महात्मा और भगवान्‌तक-का अपमान कर बैठते हैं। धन-दुर्मदान्धसे ऐसा कौन-सा पाप है, जो नहीं हो सकता। धनका नशा चढ़ा कि मनुष्य पागल होकर गहरी खाईंमें गिरा!

धनका सदुपयोग-दुरुपयोग कर्ताकी बुद्धिपर निर्भर करता है। धनसे अन्नदान, भूमिदान, शिक्षादान, कूप-तालाब-निर्माण आदि सत्कार्य भी हो सकते हैं और शराब, व्यभिचार, खून, गोले-बारूद और परमाणु-बमका निर्माण आदि दुष्कार्य भी हो सकते हैं। जिनके पास धन हो, उन्हें सात्त्विक बुद्धिसे धनका सदुपयोग करना चाहिये। धन सहज ही बुद्धि बिगाड़ता है, फिर पहलेसे ही बिगड़ी बुद्धि हो तब तो कहना ही क्या है! ***'गिलोय और नीम चढ़ी!'***

जिसके पास धन अधिक है, वह अधिक सुखी है—इस भ्रमको त्याग दो। वरं जिसके पास जितना धन अधिक है, उतनी ही उसके मनमें अभावकी भावना अधिक है। जितनी ही अभावकी अनुभूति अधिक है, उतना ही दुःख अधिक है। अवश्य ही धनहीन व्यक्तिके दुःखका स्वरूप दूसरा होता है और बड़े धनीके दुःखका दूसरा; पर जहाँ जितनी ही कामनाकी आग बढ़ी हुई होगी, उतना ही ताप—जलन अधिक होगी। यह निश्चय है।

धनको कभी अनावश्यक महत्त्व मत दो—बटोरनेमें भी और दान करनेमें भी। धनसे ही दान, सत्कर्म या सेवा होगी, यह धारणा ठीक नहीं है। सच्चे दान, सत्कर्म और सेवामें मनके भावकी महत्ता है, धनकी कदापि नहीं। महिमा त्यागकी है, धनकी नहीं।

धनको गरीबोंकी सेवामें लगाओ। किसीको सताने या तंग करनेमें जो मनुष्य धनका उपयोग करता है, उसके लिये तो वह धन महान् अभिशाप है और उसे भयंकर नारकीय यन्त्रणा प्राप्त करानेमें प्रधान कारण होता है।

याद रखो—दूसरे का स्वत्व—हक मारकर धन कमानेकी कल्पना करना भी बड़ा पाप है। हकका कमाओ, हकका खाओ और शुद्ध हकका ही सदा सेवन करो! दूसरे धनको भयानक विष समझो—***'धन पराय बिष तें बिष भारी।'*** **'शिव'**

आवरणचित्र-परिचय—

यज्ञीय संस्कृति

भरतीय संस्कृति और वेद-पुराणोंमें यज्ञोंकी अपार महिमा है। यज्ञ तो वेदोंका मुख्य प्रतिपाद्य ही है। यज्ञोंद्वारा विश्वात्मा प्रभुको संतृप्त करनेकी विधि बतलायी गयी है। अत: जो जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें यज्ञ-यागादि शुभ कर्म अवश्य करने चाहिये। परमात्माके नि:श्वासभूत वेदोंकी मुख्य प्रवृत्ति यज्ञोंके अनुष्ठान-विधानमें है। यज्ञोंद्वारा समुद्भूत पर्जन्य—वृष्टि आदिसे संसारका पालन होता है। इस प्रकार परमात्मा यज्ञोंके सहारे ही विश्वका संरक्षण करते हैं। यज्ञकर्ताको अक्षय सुखकी प्राप्ति होती है।

मनुष्यको अपने जीवनके सर्वविध कल्याणार्थ यज्ञधर्मको अपनाना चाहिये। मानवका और यज्ञका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध सृष्टिके प्रारम्भकालसे ही चला आ रहा है। वस्तुत: देखा जाय तो मानव-जातिके जीवनका प्रारम्भ ही यज्ञसे होता है। इस विषयका स्पष्टीकरण गीता (३। १०-११)-में भी किया गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

अर्थात् 'प्रजापति (ब्रह्मा)-ने सृष्टि-रचनाके समय यज्ञके साथ मानव-जातिको उत्पन्न करके उनसे कहा—'इस यज्ञके द्वारा तुम्हारी उन्नति होगी और यह यज्ञ तुम्हारे लिये मनोऽभिलषित फल देनेवाला होगा। तुम इस यज्ञके द्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करो और देवता तुम लोगोंको यश-फल-प्रदानके द्वारा सन्तुष्ट करेंगे। इस प्रकार परस्पर तुम दोनों अत्यन्त कल्याणपदको प्राप्त करो।'

यज्ञ सकाम भी किये जाते हैं और निष्काम भी। अग्नि, भविष्य, मत्स्य आदि पुराणोंमें जो यज्ञों तथा उनकी विधि आदिका विस्तृत तथा स्पष्ट विवरण मिलता है, वह वेद और कल्पसूत्रोंपर आधृत है। अनेक राजाओं आदिके चरित्र-वर्णनमें विविध यज्ञ-अनुष्ठानोंके सुन्दर आख्यान-उपाख्यान भी पुराणोंमें उपलब्ध होते हैं। इन यज्ञोंसे परमपुरुष नारायणकी ही आराधना होती है। श्रीमद्भागवत (४। १४। १८-१९)-में स्पष्ट वर्णित है—

यस्य राष्ट्रे पुरे चैव भगवान् यज्ञपूरुषः।
इज्यते स्वेन धर्मेण जनैर्वर्णाश्रमान्वितैः॥
तस्य राज्ञो महाभाग भगवान् भूतभावनः।
परितुष्यति विश्वात्मा तिष्ठतो निजशासने॥

'जिसके राज्य अथवा नगरमें वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करनेवाले पुरुष स्वधर्म-पालनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करते हैं, हे महाभाग! भगवान् अपनी वेद-शास्त्ररूपी आज्ञाका पालन करनेवाले उस राजासे प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि वे ही सारे विश्वकी आत्मा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके रक्षक हैं।' पद्मपुराणके सृष्टिखण्ड (३। १२४)-में स्पष्ट कहा गया है कि—'यज्ञसे देवताओंका आप्यायन अथवा पोषण होता है। यज्ञद्वारा वृष्टि होनेसे मनुष्योंका पालन होता है, इस प्रकार संसारका पालन-पोषण करनेके कारण ही यज्ञ कल्याणके हेतु कहे गये हैं'—

यज्ञेनाप्यायिता देवा वृष्ट्युत्सर्गेण मानवाः।
आप्यायनं वै कुर्वन्ति यज्ञाः कल्याणहेतवः॥

सभी वेदों-पुराणोंने यज्ञोंके यथासम्भव सम्पादनपर अत्यधिक बल दिया है। यज्ञ वृष्टिमें सर्जक होनेके कारण इनसे प्रकृति और पर्यावरणका संरक्षण भी होता है, परंतु यज्ञोंका फल केवल ऐहलौकिक ही नहीं, अपितु पारलौकिक भी है। इनके अनुष्ठानसे देवों, ऋषियों, दैत्यों, नागों, किन्नरों, मनुष्यों तथा सभीको अपनी अभीष्ट कामनाओंकी प्राप्ति ही नहीं हुई, प्रत्युत उनका सर्वांगीण अभ्युदय भी हुआ है। अत: इनका सम्पादन अवश्यकरणीय है।

भगवत्प्राप्तिकी साधनामें आत्मनिवेदनकी भूमिका

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भक्तिका पहला अंग श्रवण है। इसलिये इसको सर्वप्रथम भक्ति कहते हैं। श्रवणके बिना कोई भक्ति नहीं हो सकती। यदि कोई ऐसा उदाहरण मिले तो उसमें भी पूर्व-संस्कार तो मिलेंगे ही, जिनसे यही प्रतीत होता है कि इसने पूर्वजन्ममें ही श्रवण कर लिया होगा। श्रवण आदि भक्ति है। पहले सुनता है तभी तो उसकी रुचि होकर वह इस ओर (भक्तिकी ओर) लगता है। आत्मनिवेदन अन्तिम भक्ति है, इसमें और भक्तियाँ समा जाती हैं। आत्मनिवेदन हो जानेपर उस साधककी भक्ति अनन्य हो जाती है। शरणागतिके जितने भाव हैं, वे स्वयं ही उसमें आ जाते हैं। पतंजलिने जो **'ईश्वरप्रणिधान'** कहा है, वह भी इस पुरुषमें आ जाता है तथा उसका फल समाधि-सिद्धि भी उसे मिल जाती है। फिर उद्धारकी तो उसे कोई चिन्ता ही नहीं रहती, उसका तो उद्धार निश्चित हो चुका।

आत्मसमर्पण करके भक्त सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है। उसे अपने लोक-परलोकके लिये किसी प्रकारका भय या चिन्ता नहीं रहती। एक मनुष्य पाठशाला चलाता है, रात-दिन उसकी चिन्तामें लगा है। यदि कोई योग्य सम्पत्तिशाली सज्जन उस कामको सँभाल ले तो फिर वह निश्चिन्त हो जाता है। फिर कभी-कभी वह उसका काम करता भी है तो भी उसे कोई चिन्ता नहीं होती; इसी प्रकार जैसे कोई आदमी अपना काम किसी योग्य व्यक्तिको सौंपकर परदेश जाय तो पीछेके कामकी कोई चिन्ता नहीं रहती, ऐसे ही जो अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, उसके लिये भय और चिन्ताका कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उसके आनन्दका पार नहीं रहता। जैसे किसी कंगाल लड़केको कोई करोड़पति दत्तक (गोद) ले तो वह बड़ी प्रसन्नतासे उस पिताकी गोदमें जाकर बैठ जाता है और निश्चिन्त हो जाता है। वह जानता है कि मेरे पास पाँच पैसे भी नहीं थे और अब मैं करोड़ोंकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी हो गया; अतः उस पिताकी गोदमें बैठकर उसे बड़ा ही आनन्द होता है; क्योंकि इससे उसके अन्न-वस्त्रकी चिन्ता सदाके लिये मिट जाती है। यह तो एक मनुष्यकी गोदमें बैठनेकी बात है, परंतु जो उस परमात्माको आत्मसमर्पण कर देता है, उसके आनन्दका क्या ठिकाना है! वहाँ भयकी बात ही कहाँ है? जब साधारण धनवान्‌की गोदमें बैठनेवालेको भी भय नहीं रहता, तब परमात्मा तो सर्वसामर्थ्यवान् है, उसकी गोदमें भय कैसा! वहाँ पहुँचकर फिर शान्तिका पार नहीं रहता। धनवान्‌की गोदमें बैठनेवाला तो धनके स्वार्थवश, उसमें बाधा पड़नेपर उसीका अनिष्ट-चिन्तन कर सकता है। यह उसकी नीचता और कृतघ्नता है। परंतु परमात्माकी गोदमें कोई इस स्वार्थसे नहीं बैठता, उसको इसी बातमें बड़ा आनन्द होता है कि प्रभुने मुझको अपना लिया! हमलोग तो उसके आनन्दको समझ नहीं सकते। बड़ी विलक्षण बात है। एक करोड़पति वाइसरायसे मिलने जाता है, उसके साथ दो-चार आदमी हैं और वह लड़का भी है, जिसे उसने दत्तक लेनेका विचार किया है। वाइसराय पूछते हैं कि यह लड़का किसका है? वह लड़का कहता है कि मैं इनका हूँ, परंतु जबतक वह करोड़पति स्वयं अपने मुँहसे यह बात स्वीकार नहीं कर लेता, तबतक वाइसराय उसकी बात नहीं मानते। यदि दूसरी बार वह लड़का अकेला जाता है तो वाइसराय उसका कोई स्वागत नहीं करते; कहते हैं सेठका पत्र लाओ। तुम ही तो कहते हो कि मैं उनका हूँ, उन्होंने कहाँ स्वीकार किया है? इस प्रकार उस लड़केके कहनेका कोई विशेष असर नहीं पड़ता। वह लड़का अपने मुँहसे कहता है 'मैं इनका हूँ।' इसमें उसे वह आनन्द नहीं मिलता, जो उस धनवान्‌के यह कहनेपर मिलता है कि 'यह मेरा है।' इसी प्रकार अभी तो हमीं कह रहे हैं कि 'हम आपके हैं।' जिस दिन प्रभु हमें स्वीकार कर लेंगे और कहेंगे कि 'तू मेरा है', उसी दिन

हम उनके सच्चे अपने होंगे। जिसे परमात्मा अपनाते हैं, उसके आनन्दको हमलोग क्या कह सकते हैं? उसमें स्वार्थ नहीं, प्रेम है। दत्तक लिये गये लड़केको तो यदि पिता कष्ट देते हैं तो वह विरुद्ध भी हो जाता है; क्योंकि वह तो धनके लोभसे गया है, परंतु जो निष्काम प्रेमभावसे अपने-आपको भगवान्‌के समर्पित कर देते हैं, उनके शरीरके तो यदि टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो भी वे अपना अहोभाग्य ही समझते हैं। वहाँके उपयुक्त तो कोई उदाहरण ही नहीं प्रतीत होता। कोई आदमी किसी महात्माके पास जाता है और उनसे एक वस्त्र स्वीकार करनेकी प्रार्थना करता है। महात्मा अस्वीकार कर देते हैं। वह तो अर्पण करता है, परंतु जहाँतक महात्मा स्वीकार नहीं करते, वहाँतक अर्पण नहीं होता! जब विशेष आग्रह करनेपर महात्मा स्वीकार कर लेते हैं, तब अर्पण हो जाता है। वह कहता है, अहा! मेरा अहोभाग्य है, जो मेरा वस्त्र महात्माजीने स्वीकार कर लिया! फिर जब महात्मा उस वस्त्रको अपने सेवकोंको न देकर स्वयं अपने काममें लाते हैं, तब उसे कितना आनन्द होता है! महाराजकी सेवामें एक पंखा भेंट किया जाता है, गरमी खूब पड़ रही है, उसी पंखेसे अपने ही हाथसे हवा करनेका विशेष आग्रह करनेपर यदि वे महात्मा स्वीकार कर लेते हैं तो कितना आनन्द होता है। महाराज सोना चाहते हैं, उनसे प्रार्थना की जाती है कि महाराज! मेरी गोदमें सोनेकी कृपा कीजिये। विशेष आग्रहसे यदि वे स्वीकार कर लें तो कितना आनन्द होता है। अब यदि देखा जाय तो वह महात्मा हैं या नहीं, इसका पता नहीं। हमारी भावनासे ही हमको इतना आनन्द होता है। ऐसे ही वह परमात्मा जिसको बहुत-से महात्मा प्राप्त कर चुके हैं, यदि हमारे शरीरको अपने काममें लाते हैं या काटते भी हैं तो कितना आनन्द होना चाहिये। उस समय हमारा रोम-रोम हर्षित हो जाना चाहिये। यदि हमारे शरीरके चमड़ेकी जूतियाँ बनाकर वे पहन लें, तो हम कृतकृत्य हो जायँ। अहा! हमारे शरीरका ही यह उपयोग हो रहा है। कितनी दया है! हमारी वस्तुको प्रभु काममें ला रहे हैं। एक पतिव्रता पतिके सुखसे सुखी होती है। जिस समय पतिदेव उसका तन-मन अपने काममें लाते हैं, उस समय वह अत्यन्त आनन्दित होती है। यद्यपि यह पतिव्रता अपने पतिमें ईश्वर-भाव ही रखती है, परंतु तो भी यह तो समझती है कि वे मेरे लिये ही नारायण हैं। दो घनिष्ठ मित्रोंमेंसे यदि एक दूसरेकी वस्तुको बिना पूछे अपने काममें लाता है तो उस वस्तुके स्वामीको आनन्द ही होता है; यह समझकर उसे और भी अधिक आनन्द होता है, कि मेरे मित्रने मेरी वस्तु स्वीकार कर ली। ये सब तो लौकिक बातें हैं। इसी प्रकार यदि साक्षात् परमेश्वर हमारी वस्तुओं और हमारे शरीर आदिको अपने काममें लाते हैं तो उससे बढ़कर हमारे लिये और क्या आनन्दकी बात हो सकती है? इस प्रकार जो प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, उसके आनन्दका कोई ठिकाना नहीं रहता।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके सहित साधुवेषमें सिंहको साथ लिये राजा मयूरध्वजके यहाँ पहुँचे, उस समय उन्होंने राजाके पुत्र रत्नकुमारका आधा शरीर अपने सिंहके लिये माँगा। राजाने कहा—'महाराज! मुझे तो कोई आपत्ति नहीं, परंतु रानीसे पूछना आवश्यक है।' रानीके स्वीकार करनेपर राजा-रानी दोनोंने पुत्रसे पूछा। पुत्र बोला—ऐसा अवसर फिर कहाँ मिलेगा? ये तो साक्षात् भगवान् हैं। राजा और रानी दोनों पुत्रको चीरने लगे, पुत्र हँसता है, खिलखिलाता है। उसे यह ज्ञान है कि ये परमेश्वर हैं। उसमें श्रद्धा है, प्रेम है और प्रसन्नता है। राजा और रानीने तो अपनी प्यारी वस्तु ही भगवान्‌के अर्पण कर दी! राजा-रानीको उसके समान आनन्द कैसे हो सकता था? उस समय रानीकी आँखोंसे आँसू गिरते देखकर साधु बोले—'हम नहीं जीमते।' रानी कहती है—'महाराज! मैं पुत्रके मृत्युशोकसे नहीं रो रही हूँ, दु:ख यह है कि पुत्रका आधा शरीर काममें आया। आधेने न जाने क्या पाप किया है?' भगवान् तुरंत प्रकट हो गये। वे तो प्रकट होनेवाले ही थे। यदि हमारा भाव ऐसा हो तो हमारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के अर्पण ही हैं। उन तीनों (राजा-रानी और पुत्र)-में

किसीको भी दुःख होता तो भगवान् स्वीकार नहीं करते। हर्षके साथ अर्पण करना चाहिये। राजा मयूरध्वज, रानी और राजकुमारका-सा भाव हो तो भगवान् तुरंत प्रकट हो जायँ। जो ऐसी प्रसन्नतासे अपने-आपको भगवदर्पण करता है, उसीको भगवान् स्वीकार करते हैं। ऐसे प्रेमसे दी हुई वस्तुको भगवान् नहीं त्यागते। महात्मा लोग भी प्रेमसे दी हुई वस्तुको आवश्यकता होनेपर ले लेते हैं। वे समझते हैं कि नहीं लेनेसे इस बेचारेको दुःख होगा। फिर परमात्माकी ओरसे तो खुली आज्ञा हो चुकी है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा०रा० ६। १८। ३३)

'जो एक बार भी सच्चे हृदयसे उनकी शरण हो जाता है, उसको वे कभी नहीं त्यागते।' जैसे किसीके पास एक वस्त्र है, उस वस्त्रने अपने स्वामीको आत्म-समर्पण कर रखा है। वह उसे फाड़े, फेंके, जलाये, बिछाये, ओढ़े अथवा किसीको दे डाले; वह कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देता, वह उसका कैसा ही उपयोग करे, उस वस्त्रको कोई आपत्ति नहीं होती। इस प्रकार जो उन प्रभुको आत्मसमर्पण कर देता है, वे उसका जो चाहे सो करें, उसे कोई आपत्ति नहीं होती। ऐसा पुरुष जीता हुआ ही मुक्त हो जाता है। वह जीता हुआ ही मुर्देके समान प्रभुके समर्पित हो जाता है, मुर्दा कोई आपत्ति कर सकता हो तो वह भी करे। इस प्रकार जो जीता हुआ ही मुर्देका सच्चा स्वाँग कर दिखलाता है, वही जीवन्मुक्त है।

ऐसा जीवन्मुक्त महात्मा निर्भय हो जाता है, वह शोकसे तर जाता है तथा अटल और नित्य शान्तिको प्राप्त होता है। उस जीवन्मुक्तका संसारमें विचरना हमलोगोंके कल्याणके लिये ही होता है। उसे अपने लिये कोई कर्तव्य नहीं रहता—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

'जो पुरुष इस प्रकारसे भगवत्-शरण हो जाता है, उसका जीवन केवल लोगोंके कल्याणके लिये ही होता है।' जैसे पंचायतीके सामानोंसे जो चाहे वही अपना काम निकाल सकता है, उसी प्रकार उस पुरुषसे भी सबको अपना काम निकाल लेनेका अधिकार-सा होता है। ऐसे विरक्त पुरुषोंका जीना संसारके उपकारके लिये ही होता है। परंतु उनमें ऐसा भाव नहीं होता कि मैं संसारके हितके लिये विचरता हूँ। जो ऐसा कहता है वह तो अभिमानी है, वह जीवन्मुक्त कभी नहीं हो सकता। अमानित्व आदि सद्गुण तो उनमें पहलेसे ही आ जाते हैं।

ऐसे पुरुषोंके दर्शनसे नेत्र, भाषणसे वाणी और चिन्तनसे मन पवित्र हो जाता है। ऐसे पुरुष संसारमें हजारों-लाखों हो चुके हैं। उत्तराखण्डकी तपोभूमिमें तो ऐसे बहुत-से ऋषियोंने तपस्या की है। वह पवित्र भूमि स्वाभाविक ही वैराग्ययुक्त है। उस भूमिमें रहनेवाले महात्मा पुरुषोंकी महिमा कहाँतक गायी जाय? भगवान्से यदि कुछ माँगना हो तो यही माँगे कि 'हे प्रभो! जिन महात्माओंकी महिमा आप गाते हैं, हमें उन्हींके चरण-चिह्नोंका अनुगामी बनाइये।' और माँगनेकी भी क्या आवश्यकता है। जो पुरुष भगवान्की शरण हो जायगा और जिसे भगवान् अपना लेंगे, उसके उद्धारकी तो बात ही क्या है, वह तो औरोंका भी उद्धार कर सकता है। ऐसे महात्मामें ऐसे लक्षण आ जाते हैं, जैसा कि भगवान् कहते हैं—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

(गीता १२। १८-१९)

'जो पुरुष शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस-किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है, और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है।' (आत्मसमर्पणसे ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है)।

सुखका उपाय

(श्रद्धेय सन्त श्रीमोटाजी, नाडियाद-गुजरातवाले)

व्यवहारमें प्रकृति

भगवान्‌का ‘नामस्मरण’ एक ऐसा शब्द है कि जिनकी बुद्धि तर्कप्रधान है, वे तर्क किये बिना नहीं रहेंगे। ऐसे लोग सोचते हैं कि उससे जीवनमें क्या बदलाव आयेगा? उसके बदले जीवनमें दूसरी कोई प्रवृत्ति करें, समाजकी सेवा करें, समाजके अन्दर समाजके दूसरे जीवोंके लिये कुछ अच्छा कर सकें, तो बदलाव आयेगा। मुझे भी उस समयमें ऐसा लगता था कि भगवान्‌के नामस्मरणमात्रसे जीवनमें उन्नति होगी—ऐसा स्वीकार नहीं कर सकता। इसका हल मुझे मिलता नहीं था, परंतु धीरे-धीरे अनुभवसे मुझे लगा कि मनुष्यकी प्रवृत्तिके साथ प्रकृति और स्वभाव जुड़े हुए हैं। हम मनुष्योंके साथ प्रत्येक प्रवृत्ति स्वभाव और प्रकृतिके अनुसार ही करते हैं। हम जीवोंके साथके सम्बन्धोंमें भी वैसा ही करते रहते हैं। व्यवहारमें जिस तरह वर्ताव होता है, उसका माध्यम प्रकृति और स्वभाव है। हम कितने ही मनुष्योंके साथ प्रवृत्तिके कारण जुड़े हुए होते हैं। जिन-जिन जीवोंके साथ जुड़े हुए होते हैं, उन सभीकी प्रकृति और स्वभाव अलग-अलग प्रकारके होते हैं। और उस प्रकृति और स्वभावके अनुसार ही व्यवहार होता है। इसमें इच्छा-अनिच्छाका कोई प्रश्न रहता नहीं। जिस तरह अग्नि गरम है, ऐसा हमारी समझके कारण लगता है, उसी तरह कर्मको भी अलग-अलग रीतिसे करना होता है और सन्त-महात्मा वैसा करते होते हैं।

प्रवृत्तिकी पसन्दगी

कर्म व्यवहारमें अनेक मनुष्योंके साथके सम्बन्धोंमें उनकी प्रकृति और स्वभावके कारण अशान्ति, संघर्ष, उलझन, तकलीफ प्रकट होती है, शान्ति नहीं रहती। ऐसे सन्त-महात्मा जीवनमें अनेक जीवोंके साथ इस रीतिसे सम्बन्धमें होते हैं और वैसे उसके कारण सभीके साथमें जीवदशामें भाग लेते होते हैं। समाजमें हम किसीके पिता, माता, बहन, भाई, पुत्री, पुत्र होते हैं। जीवनमें प्रत्येकके साथ जिस तरहका सम्बन्ध होता है, उस तरहका व्यवहार करते हैं। उनके कारण हमें दुःख-अशान्ति आदि होते हैं, और हमारे कारण उन्हें भी ऐसा होता है। संसारमें दूसरे जीवोंसे हमें परेशानी, संताप, उद्वेग, अड़चन, तकलीफ हुए बगैर नहीं रहती है। उससे मुक्त होना हो तो किसी भी प्रकारकी प्रवृत्ति करें तो मुक्त नहीं हो सकते। प्रवृत्ति उस प्रकारकी होनी चाहिये कि जिससे दूसरेके साथ कम-से-कम सम्पर्क हो और हम उससे अलिप्त होते जायँ। ऐसी प्रवृत्ति वह नामस्मरण है। उसके साथ हमारी चालू प्रवृत्ति भी हो सकती है।

नामस्मरणसे एकाग्रता

भगवान्‌की कृपासे मुझे मिरगी नामकी बीमारी हुई। मुझे एक महात्माने नामस्मरण करनेको कहा। उसमें ऐसा बल प्रकट होता गया कि उसके कारण गुंजन प्रकट होने लगा। शब्दके गुंजनके कारण भावनापूर्वक उच्चारण होने लगा और जब वह भावनापूर्वक होने लगा तब धुन प्रकट होने लगी। यह जो करे उसे ही पता लगता है। यह हकीकतकी बात है। कल्पनाकी बात नहीं। जब नामस्मरणमें सातत्य प्रकट होगा, तब धुन प्रकट होगी और धुन प्रकट होगी तो लय (रिदम) आयेगी, उसके कारण दोलन होने लगता है और दोलन होनेकी स्थितिसे एकाग्रता अपने-आप होती है। नामस्मरणमें जैसे-जैसे सातत्य बढ़ेगा, वैसे-वैसे वह अत्यन्त गाढ़ा होता जायगा। ऐसा हो, तब प्रवृत्ति करते हुए भी, दूसरोंके साथ सम्बन्ध होते हुए भी दुःख, उद्वेग, संताप इत्यादिकी उपस्थिति होते हुए भी वह अलिप्त रहता है। जैसे-जैसे आप आगे बढ़ते जायँगे, वैसे-वैसे अशान्ति नहीं लगती।

नामस्मरणसे आत्मबल

नामस्मरणकी प्रवृत्तिमें रहें तो वह सुखद बनती है और आत्मबल टिकता है। यह अनुभव की हुई हकीकत है। भगवान्‌का स्मरण यह अभीकी जीवदशाकी प्रवृत्तिसे अलग है। हम द्वन्द्वातीत, गुणातीत नहीं हुए

हैं। नामस्मरणसे यह स्थिति प्रकट होती है। क्लेश, संताप, दुःख, मुसीबत कम होती है। नामस्मरणके कारण धीरे-धीरे ऐसा अनुभव हुआ। १२-१४ घण्टे काम करता था। उस समय कुछ देरके लिये भी भगवान्‌के गुणधर्मके लिये और उसके मनन-चिन्तनके लिये इच्छा होती, बाकी टिकती नहीं। नामस्मरण अकेलेसे नहीं चलेगा—ऐसा लगा। उस समय गुरु महाराजने कहा कि सातत्य प्रकट हो वहाँतक ले जाओ, दूसरे किसी झमेलेमें पड़ना नहीं। जैसे-जैसे भावना पूरी तरह शब्दोंमें प्रकट होगी और सातत्य प्रकट होगा, वैसे-वैसे भावनामें प्रगाढ़ता प्रकट होती है। और ऐसी अखंडता प्रकट होगी, तब समाजमें रहनेपर भी दुःख नहीं होगा। यह हकीकतकी बात है। संघर्ष, अशान्ति, दुःखमेंसे उबरनेकी सभीकी इच्छा होती है, परंतु वैसे उसमेंसे बच नहीं सकते। उसमेंसे उबरनेके लिये तो ऊँची प्रवृत्तिमें सतत निरन्तर लगे रहें, कूद पड़ें और उसके बारेमें सदैव सावधान रहें, ऐसी भावना जीवनमें प्रकट हो, तब वह दूसरे जीवोंके साथ अनेक प्रकारके दुःख, क्लेश आदिमें जुड़ा हुआ हो, फिर भी स्पर्श नहीं होता है।

स्वच्छ जीवनकी भूमिका

गीतामाताने भी कहा है—'**न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।**' (४।१४)

वैज्ञानिक प्रयोग करके बताते हैं, वैसे ही शास्त्रकारोंने और सन्त-महात्माओंने अनुभवसे यह सिद्धान्त दिया है कि कर्म करनेपर भी ऐसे मनुष्य उसमें लिप्त नहीं होते हैं। उनके कर्म जिस प्रकारसे होते हैं, उसमें जीवप्रकारकी स्थिति नहीं होती। उन जैसोंको स्पृहा नहीं होती। निरहंकारता, निर्ममत्व, निर्लेपतामें रहनेके लिये शान्तिकी खास जरूरत है। सब जीवोंके साथ हम प्रेमभावसे सद्‌भावसे व्यवहार करें। नम्रता है, फिर भी बुद्धिमान् मनुष्योंमें इतनी अधिक समझदारी होती है कि आग्रहपूर्वक कहते हैं कि यही सच है। ऐसे आग्रह छोड़ने चाहिये। सन्त अहंकाररहित-ममत्वरहित होनेको कहते हैं। यह भक्तिपूर्वक करना है। इसलिये सबके साथ अनासक्तिसे अनाग्रहकी रीतिसे सोचकर काम करना चालू रखें तो नामस्मरणमें उठाव आता है। जिस तरह कपड़ेको रँगना हो (इस शरीरका धंधा रँगनेका था) तब उसे साफ करना पड़ता है। कभी धोबीको भी देना पड़ता है। रंगका उठाव लानेके लिये उसे ठीकसे स्वच्छ करना पड़ता है। नामस्मरणमें उठाव लानेके लिये जीवनको उतना ही स्वच्छ बनानेकी जरूरत है। प्रत्यक्ष जीवनमें सब गुणोंका अनुभव कर सकें और उसका भरोसा हो जाय तभी समझमें आयेगा। हम सब वैसा नहीं कर सकते। सब करते नहीं। भगवान् है और सब उसके अंग हैं वैसा कहते हैं। वह जैसा सबको घुमाता है, वैसे घूमते हैं। गीतामाताने भी ऐसा ही कहा है—'**भ्रामयन् सर्वभूतानि।**' (१८।६१)

अभीकी द्वन्द्वात्मक, गुणात्मक प्रवृत्तिसे दूर हो जायँ, तो अनन्त प्रकारका आनन्द प्रकट होगा कि जहाँ आनन्दकी सीमा नहीं है। उस उत्साहकी किसीके साथ तुलना नहीं कर सकते। इसलिये उसे अवर्णनीय कहा है। वह न हो सके—ऐसा नहीं है, वह सब हो सके, ऐसा है। ऐसा सबूतके साथका प्रयोग है। नहीं होनेका कोई कारण नहीं, परंतु वैसी तमन्ना प्रकट नहीं होती। उसके लिये ज्वालामुखीके समान दहकती तमन्ना, गुरुमहाराजके आशीर्वादके कारणसे या ईश्वरकी कृपासे प्रकट हो जाय तो अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। गीतामें भी प्रमाण दिये हैं, 'मेरा चिन्तन अनन्य भावसे करे, सातत्य प्रकट हो, उसका योगक्षेम मैं सब रीतिसे करता हूँ।' परंतु उन्होंने जो पहली बात कही है, उसका कोई पालन करता नहीं। दुःख आये तब ऐसा कहते हैं सही कि भगवान्‌की प्रसादी है? परंतु हकीकतकी बात है, अनुभवकी बात है। प्रयोगकी दृष्टिसे सच है कि ऐसा अनन्यपन प्रकट हो, तब सतत शुरू करे, तब योगक्षेम ईश्वर ही चलाते हैं। परंतु ऐसा सब तो करते नहीं।

[**संकलन—डॉ० श्रीरमेश म० भट्ट**]

[**प्रेषक—श्री एच० जे० शुक्ला**]

तीर्थसेवन कैसे करें?

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

लोग कहते हैं कि 'पुराणोंमें तीर्थोंकी इतनी महत्ता बता दी गयी है कि सदाचार तथा ज्ञानके साधनोंका तिरस्कार हो गया है। तीर्थ-सेवनके कुछ अनुचित पक्षपातीलोग भी ऐसा कह देते हैं कि बस, अमुक तीर्थका सेवन करो, फिर चाहे जो पापाचार-अनाचार करो, कोई डरकी बात नहीं है।' पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। इस भूलमें कोई न रहे, इसीसे पुराणोंमें जहाँ तीर्थादिका माहात्म्य प्रचुर मात्रामें लिखा गया है, वहीं ऐसी बात लिख दी गयी है, जो सारे भ्रमोंको दूर कर देती है। स्कन्दपुराणमें काशीका बड़ा माहात्म्य है। पर साथ ही कहा गया है कि पाप करनेवाले लोग काशीमें न रहें—

पापमेव हि कर्तव्यं मतिरस्ति यथेदृशी।
सुखेनान्यत्र कर्तव्यं मही ह्यस्ति महीयसी॥
अपि कामातुरो जन्तुरेकां रक्षति मातरम्।
अपि पापकृता काशी रक्ष्या मोक्षार्थिनैकिका॥
परापवादशीलेन परदाराभिलाषिणा।
तेन काशी न संसेव्या क्व काशी निरयः क्व सः॥
अभिलष्यन्ति ये नित्यं धनं चात्र प्रतिग्रहैः।
परस्वं कपटैर्वापि काशी सेव्या न तैर्नरैः॥
परपीडाकरं कर्म काश्यां नित्यं विवर्जयेत्।
तदेव चेत् किमत्र स्यात् काशीवासो दुरात्मनाम्॥

(काशी० २२। ९५—९९)

अर्थार्थिनस्तु ये विप्र ये च कामार्थिनो नराः।
अविमुक्तं न तैः सेव्यं मोक्षक्षेममिदं यतः॥
शिवनिन्दापरा ये च वेदनिन्दापराश्च ये।
वेदाचारप्रतीपा ये सेव्या वाराणसी न तैः॥
परद्रोहधियो ये च परेर्ष्याकारिणश्च ये।
परोपतापिनो ये वै तेषां काशी न सिद्धये॥

(काशी० १२२। १०१—१०३)

'मैं तो पाप करूँगा ही—ऐसी जिसकी बुद्धि है, उसके लिये पृथ्वी बहुत बड़ी पड़ी है। वह काशीसे बाहर कहीं भी जाकर सुखसे पाप कर सकता है। कामातुर होनेपर भी मनुष्य एक अपनी माताको तो बचाता ही है। ऐसे ही पापी मनुष्यको भी मोक्षार्थी होनेपर एक काशीको तो बचाना ही चाहिये। दूसरोंकी निन्दा करना जिनका स्वभाव है और जो परस्त्रीकी इच्छा करते हैं, उनके लिये काशीमें रहना उचित नहीं। कहाँ मोक्ष देनेवाली काशी और कहाँ ऐसे नारकी मनुष्य, जो प्रतिग्रहके द्वारा धनकी इच्छा करते हैं और जो कपट-जाल फैलाकर दूसरोंका धन हरण करना चाहते हैं, उन मनुष्योंको काशीमें नहीं रहना चाहिये। काशीमें रहकर ऐसा कोई काम कभी नहीं करना चाहिये, जिससे दूसरोंको पीड़ा हो। जिनको यही करना हो, उन दुरात्माओंको काशीवाससे क्या प्रयोजन है!'

'विप्रवर! जो अर्थार्थी या कामार्थी हैं, उनको इस मुक्तिदायी काशीक्षेत्रमें नहीं रहना चाहिये। जो शिवनिन्दामें और वेदकी निन्दामें लगे रहते हैं तथा वेदाचारके विपरीत आचरण करते हैं, उनको वाराणसीमें नहीं रहना चाहिये। जो दूसरोंसे द्रोह करते हैं, दूसरोंसे डाह करते हैं और दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हैं, काशीमें उनको सिद्धि नहीं मिलती।'

पापात्मा तीर्थफलसे वंचित रहता है—यह स्पष्ट कहा गया है—

अश्रद्दधानः पापात्मा नास्तिकोऽच्छिन्नसंशयः।
हेतुनिष्ठश्च पञ्चैते न तीर्थफलभागिनः॥

(काशी० २२। ९५—९९)

'श्रद्धाहीन, पापात्मा (तीर्थमें पापीकी—पाप करनेवालेकी—शुद्धि होती है, पर जिसका स्वभाव ही पापमय है, उस पापात्माकी नहीं होती), नास्तिक, संदेहशील और हेतुवादी—इन पाँचोंको तीर्थफलकी प्राप्ति नहीं होती।'

वस्तुतः तीर्थका फल किसको मिलता है—

प्रतिग्रहादुपावृत्तः संतुष्टो येन केनचित्।
अहङ्कारविमुक्तश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
अदम्भको निरारम्भो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।

विमुक्तः सर्वसङ्गैर्यः स तीर्थफलमश्नुते॥
अकोपनोऽमलमतिः सत्यवादी दृढव्रतः।
आत्मोपमश्च भूतेषु स तीर्थफलमश्नुते॥

(काशी० ६। ४९—५१)

'जो प्रतिग्रहसे निवृत्त है, जिस-किसी स्थितिमें ही संतुष्ट है और अहंकारसे भलीभाँति छूटा हुआ है, वह तीर्थफलका भोग करता है। जो दम्भ नहीं करता, सकाम कर्मका आरम्भ नहीं करता, स्वल्पाहार करता है, इन्द्रियोंको जीत चुका है और समस्त आसक्तियोंसे भलीभाँति मुक्त है, वह तीर्थफलका भोग करता है। जो क्रोधरहित है, जिसकी बुद्धि निर्मल है, जो सत्य-भाषण करता है, दृढ़निश्चयी है और समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके समान ही जानता है, वह तीर्थफलका भोग करता है।' क्योंकि—

ये तत्र चपलास्तथ्यं न वदन्ति च लोलुपाः।
परिहासपरद्रव्यपरस्त्रीकपटाग्रहाः॥
मलचैलावृताशान्ताशुचयस्त्यक्तसत्क्रियाः।
तेषां मलिनचित्तानां फलमत्र न जायते॥

(वैष्णव० बदरि० ६। ६९-७०)

(भगवान् शंकर स्कन्दजीसे कहते हैं—)

'जो चलबुद्धि हैं, लोभी हैं और तथ्यकी बात नहीं कहते, जिनके मनमें परिहास, पर-धन और पर-स्त्रीकी इच्छा है तथा जिनका कपटपूर्ण आग्रह है, जो दूषित वस्त्र पहनते हैं, जो अशान्त, अपवित्र और सत्कर्मोंके त्यागी हैं, उन मलिनचित्त मनुष्योंको इस तीर्थमें कोई फल नहीं मिलता।'

तीर्थोंमें किस प्रकार रहना चाहिये, इसपर कहा गया है—

निर्ममा निरहङ्कारा निःसङ्गा निष्परिग्रहाः।
बन्धुवर्गेण निःस्नेहाः समलोष्टाश्मकाञ्चनाः॥
भूतानां कर्मभिर्नित्यं त्रिविधैरभयप्रदाः।
सांख्ययोगविधिज्ञाश्च धर्मज्ञाश्छिन्नसंशयाः॥

(अवन्तिकाखण्ड० ७। ३२-३३)

(इस क्षेत्रमें वास करनेवाले) 'ममतारहित, अहंकार-रहित, आसक्तिरहित, परिग्रहसे शून्य, बन्धु-बान्धवोंमें स्नेह न रखनेवाले, मिट्टी, पत्थर और सोनेमें समान बुद्धि रखनेवाले, मन-वाणी और शरीरके द्वारा किये जानेवाले त्रिविध कर्मोंसे सदा सब प्राणियोंको अभय देनेवाले, सांख्य और योगकी विधिको जाननेवाले, धर्मके स्वरूपको समझनेवाले और संशय-संदेहोंसे रहित हों।'

मानस तीर्थोंका वर्णन करते हुए यहाँतक कह दिया गया है कि—

शृणु तीर्थानि गदतो मानसानि ममानघे।
येषु सम्यङ्नरः स्नात्वा प्रयाति परमां गतिम्॥
सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते।
ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता॥
ज्ञानं तीर्थं व्रतं तीर्थं तपस्तीर्थमुदाहृतम्।
तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिर्मनसः परा॥
न जलाप्लुतदेहस्य स्नानमित्यभिधीयते।
स स्नातो यो दमस्नातः शुचिः शुद्धमनोमलः॥
यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो दाम्भिको विषयात्मकः।
सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः॥
न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः।
मानसे तु मले त्यक्ते भवत्यन्तःसुनिर्मलः॥
जायन्ते च म्रियन्ते च जलेष्वेव जलौकसः।
न च गच्छन्ति ते स्वर्गमविशुद्धमनोमलाः॥
विषयेष्वतिसंरागो मानसो मल उच्यते।
तेष्वेव हि विरागोऽस्य नैर्मल्यं समुदाहृतम्॥
चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानान्न शुध्यति।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि॥
दानमिज्या तपः शौचं तीर्थसेवा श्रुतं यथा।
सर्वाण्येतान्यतीर्थानि यदि भावो न निर्मलः॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामो यत्रैव च वसेन्नरः।
तत्र तस्य कुरुक्षेत्रं नैमिषं पुष्कराणि च॥
ध्यानपूते ज्ञानजले रागद्वेषमलापहे।
यः स्नाति मानसे तीर्थे स याति परमां गतिम्॥

(काशीखण्ड ६। २९—४१)

अगस्त्यजीने लोपामुद्रासे कहा—'निष्पापे! मैं मानस-

तीर्थोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। इन तीर्थोंमें स्नान करके मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है। सत्य, क्षमा, इन्द्रियसंयम, सब प्राणियोंके प्रति दया, सरलता, दान, मनका दमन, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, प्रियभाषण, ज्ञान, धृति और तपस्या—ये प्रत्येक एक-एक तीर्थ हैं। इनमें ब्रह्मचर्य परम तीर्थ है। मनकी परम विशुद्धि तीर्थोंका भी तीर्थ है। जलमें डुबकी मारनेका नाम ही स्नान नहीं है, जिसने इन्द्रिय-संयमरूप स्नान किया है, वही स्नान है और जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वही पवित्र है।'

'जो लोभी है, चुगलखोर है, निर्दय है, दम्भी है और विषयोंमें फँसा है, वह सारे तीर्थोंमें भलीभाँति स्नान कर लेनेपर भी पापी और मलिन ही है। शरीरका मैल उतारनेसे ही मनुष्य निर्मल नहीं होता, मनके मलको निकाल देनेपर ही भीतरसे सुनिर्मल होता है। जलजन्तु जलमें ही पैदा होते हैं और जलमें ही मरते हैं, परंतु वे स्वर्गमें नहीं जाते; क्योंकि उनके मनका मैल है और विषयोंसे वैराग्यको ही निर्मलता कहते हैं। चित्त अन्तरकी वस्तु है, उसके दूषित रहनेपर केवल तीर्थ-स्नानसे शुद्धि नहीं होती। शराबके भाण्डको चाहे सौ बार जलसे धोया जाय, वह अपवित्र ही रहता है, वैसे ही जबतक मनका भाव शुद्ध नहीं है, तबतक उसके लिये दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थसेवा और स्वाध्याय—सभी अतीर्थ हैं। जिसकी इन्द्रियाँ संयममें हैं, वह मनुष्य जहाँ रहता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करादि तीर्थ विद्यमान हैं; ध्यानसे विशुद्ध हुए रागद्वेषरूपी मलका नाश करनेवाले ज्ञान-जलमें जो स्नान करता है, वही परम गतिको प्राप्त करता है।'

ऐसे प्रसंग और भी आये हैं।

इससे यह सिद्ध है कि तीर्थ-व्रत करनेवालोंके लिये भी पापोंके त्याग, इन्द्रियसंयम और तप आदिकी बड़ी आवश्यकता है। इसका यह अर्थ भी नहीं समझना चाहिये कि भौम तीर्थ कोई महत्त्व ही नहीं रखते। उनका बड़ा महत्त्व है और वे भी सच्चे हैं। वस्तुतः पुराण सर्वसाधारणकी सर्वांगीण उन्नति और परम कल्याणकी साधन-सम्पत्तिके अटूट भंडार हैं। अपनी-अपनी श्रद्धा, रुचि, निष्ठा तथा अधिकारके अनुसार साधारण अपढ़ मनुष्यसे लेकर बड़े-से-बड़े विचारशील बुद्धिवादी पुरुषोंके लिये भी इनमें उपयोगी साधन-सामग्री भरी है। ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, यज्ञ, दान, तप, संयम, नियम, सेवा, भूतदया, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, व्यक्तिधर्म, नारीधर्म, मानवधर्म, राजधर्म, सदाचार और व्यक्ति-व्यक्तिके विभिन्न कर्तव्योंके सम्बन्धमें बड़ा ही विचारपूर्ण और अत्यन्त कल्याणकारी अनुभूत उपदेश बड़ी रोचक भाषामें इन पुराणोंमें भरा गया है। साथ ही पुरुष, प्रकृति, प्रकृति-विकृति, प्राकृतिक दृश्य, ऋषि-मुनियों तथा राजाओंकी वंशावली तथा सृष्टिक्रम आदिका भी निगूढ़ वर्णन है। इनमें इतने अमूल्य रत्न छिपे हैं, जिनका पता लगाकर प्राप्त करनेवाला पुरुष लोक तथा परमार्थकी परम सम्पत्ति पा करके कृतकृत्य हो जाता है।

विनय-प्रार्थना

(डॉ० श्रीसतीशजी चतुर्वेदी 'शाकुन्तल')

हेरि हम हारे हरि! संसार।
तुम सौ नाहिं हितैषी पायौ, हरै दुखन कौ भार॥
तुम में जग में अंतर भू-नभ जैसौ हे करतार!
ये मैले पानी की पोखर, तुम सुरसरि की धार॥
यानें दै एहसान दबाए सोऊ दियौ उधार।
तुम हौ ऐसे देवनहारे गिनत नहीं उपकार॥
जगदातप में नाम तिहारौ सीतल पवन फुहार।
'शाकुन्तल' चढ़ि नाम-नाव पै है जाइ बेड़ा पार॥

नाम-स्मरण

(समर्थ सद्गुरु श्रीब्रह्मचैतन्यजी महाराज गोंदवलेकर)

मायाके फंदेसे छूटनेके लिये नामस्मरण ही साधन

परमेश्वरकी भक्ति करें, उसका नामस्मरण करें, ऐसा बहुत लोगोंको जीसे लगता है, लेकिन किसी-न-किसी कारणसे वह हो नहीं पाता। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण है मायाकी बाधा। मायाको हटाकर भगवान्तक कैसे पहुँचें? माया तो भगवान् की छायाकी तरह है। यदि भगवान्को कहा जाय कि उसे छोड़कर तुम आओ तो यह कहना वैसा ही है कि तुम मत आओ। यदि किसी व्यक्तिसे कहा जाय कि आप आइये, लेकिन अपनी छायाको मत लाइये, तो यह कैसे सम्भव होगा? अत: मायाका अस्तित्व तो होगा ही। प्रश्न तो यह है कि हम उसके फंदेसे छूटकर भगवान्के पास कैसे पहुँचें? इस प्रश्नका उत्तर एक ही है—उसका नामस्मरण करना। नामस्मरणके द्वारा ही मायाके फंदेसे छूटकर भगवान्के समीप पहुँच पायेंगे। जैसे व्यक्तिके बिना छायाका अस्तित्व नहीं हो सकता, वैसे ही मायाका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उसी प्रकार उसकी अपनी कोई शक्ति भी नहीं है; क्योंकि उसकी हलचल व्यक्तिकी हलचलके अनुसार ही होती है। भले व्यक्ति दिखायी न दे, लेकिन उसकी छाया दिखायी देती है। उसी तरह मायाके अस्तित्वका हमें भान होता है। मायाका अधिकार ईश्वरपर नहीं है। यदि कोई व्यक्ति पूर्व दिशामें चल रहा हो तो उसकी छाया भी उसके पीछेसे उसी दिशामें जायगी। यदि छाया चाहती हो कि मैं दिशामें बदल करके दूसरी दिशामें अर्थात् पश्चिम दिशामें जाऊँगी तो वह सम्भव नहीं होगा। यदि वह व्यक्ति पश्चिम दिशामें जायगा तभी छायाको पश्चिम दिशामें जाना सम्भव होगा। इसका मतलब है माया भगवान्के अधीन है। सारा विश्व ही मायारूप है। अर्थात् वह परमेश्वरकी छाया है। इसका अर्थ यह हुआ कि विश्वका आधार परमेश्वर ही है।

अब सवाल यह है कि माया के फंदेसे छूटकर ईश्वरतक कैसे पहुँचे? मानो कि किसी व्यक्तिको बहुत बड़े मालदारसे मिलना है। किंतु सीधे उसके पास तो पहुँच नहीं सकते; क्योंकि उसके दरवाजेपर पहरेदार, कुत्ते आदि हैं। उनके चंगुलसे छूट पायेंगे तभी मालिकसे मिल पायेंगे। किंतु मान लो कि उस मालिकके हस्ताक्षरका पत्र जिसमें लिखा हो कि तुम फलाने दिन मुझसे मिलो तो वह पत्र दिखाते ही पहरेदार हमें बिना शिकायत भीतर जाने देगा और हम मालिकसे मिल पायेंगे। उसी तरह यदि हम नामस्मरण अर्थात् भगवान्के हस्ताक्षरका पत्र ले जायँ तो मायारूपी पहरेदार भगवान्के हस्ताक्षर देखकर भीतर जाने देगा और हम भगवान्से मिल पायेंगे। इसलिये मायाके फंदेसे मुक्त होनेके लिये नामस्मरण ही एकमात्र उपाय है। हमें नामस्मरणमें तल्लीन होना चाहिये और शरीरका विस्मरण होना चाहिये। देहबुद्धिका विस्मरण होकर नामस्मरण करनेका मतलब है निर्गुण होना। यदि भगवान् कंजूस है तो नाम-भक्तिका दान देनेमें है। अत: उसे मनाना चाहिये और उससे यही माँगा जाय कि नामस्मरणके प्रति प्रेमनिर्माण हो। भगवान् अगर सम्भव हुआ तो सब कुछ दे देगा। लेकिन नामस्मरणके प्रति प्रेम शायद ही देगा। इसलिये हमें माँगना चाहिये केवल प्रेम। प्रभु रामके प्रति निरन्तर अनुसन्धान रखा जाय और आनन्दसे जीवन व्यतीत करें।

नाम ही सत्स्वरूप है

नाम रूपकी अपेक्षा निश्चित श्रेष्ठ है। उसके कारण रूपका ध्यान मनमें साकार नहीं हो पाया तो भी नाम छोड़ना नहीं चाहिये। भविष्यमें रूप अपने-आप प्रकट होगा। रूप जड़ और दृश्य है, इसलिये उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, बढ़ना और घटना, जगह व्यापना और जगह बदलना, कालानुसार फरक होना आदि बन्धन उसे है। किंतु नाम दृश्यके परे है। नाम सूक्ष्म है, इसलिये उसे उत्पत्ति, विनाश, वृद्धि और क्षय, देशकालकी सीमा आदि कोई विकार नहीं है। नाम सत्स्वरूप है। नाम रूपसे अधिक व्यापक है। जो वस्तु अधिक व्यापक होती है, जिसका विस्तार अधिक होता है, उसमें शक्ति

भी अधिक होती है। जिसमें अधिक शक्ति है, वह चीज अधिक स्वाधीन होती है। जो वस्तु अधिक स्वतन्त्र होती है, उसे सीमाएँ नहीं होतीं, उसे बन्धन कम होते हैं। अत: नाम रूपकी अपेक्षा अधिक व्यापक, अधिक शक्तिमान्, अधिक स्वतन्त्र, अधिक बन्धनमुक्त होता है।

हम यह जान लेंगे कि ज्ञान प्राप्त होनेकी क्रिया किस प्रकार चलती है? किसी एक टीलेपर खड़े होकर हमने प्रकृतिका सुन्दर दृश्य देखा। दृश्य देखनेकी क्रियामें कौन-कौन-सी बातें घटती हैं? पहले आँखोंके भीतर प्रकाशकिरण पहुँचे। बाह्य पदार्थोंका ज्ञान होनेके लिये प्रथम साधन इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियोंके द्वारा भीतर जो परिणाम होते हैं, उन्हें मन वस्तुका रूप देता है। जब वस्तुका स्वरूप दिखायी देता है, तब बुद्धि उसका यथार्थ ज्ञान करा देती है। लेकिन वृद्धिका कार्य यहीं नहीं रुकता। हम टीलेपर पहुँचते हैं और सृष्टिका अवलोकन करते हैं तब हमें वृक्ष, लताएँ, घर, बाग, मनुष्य, पक्षी, तालाब आदि दिखायी देते हैं। इन सबका एक विशाल रूप बनता है, तब ऐसा हमें ज्ञान होता है कि यह प्रकृतिका सौन्दर्य है। इसका मतलब हुआ कि मनुष्यकी प्रवृत्ति अनेकत्वमें एकत्व ढूँढ़नेकी है। इस विश्वमें बहुत विविधता है। विभिन्न प्रकारके पत्थर, कीड़े, पक्षी, प्राणी हम देखते हैं। इन सबके नाम अलग-अलग हैं, फिर भी इन सबमें अस्तित्व है, चाहे वे प्राणी हों, सजीव हों या निर्जीव हों। इतना ही नहीं, आनन्दकी भावना है फिर भी उसका अस्तित्व है। इसी अस्तित्वके गुणको ही नाम कहते हैं। इसीको ॐकार कहते हैं। ॐकारसे ही सृष्टिका निर्माण हुआ। ॐकार परमात्माका ही रूप है। अर्थात् नाम यानी सत्। इसीलिये नाम सृष्टिका प्रारम्भ हुआ, तब भी था, अब भी है और भविष्यमें भी रहेगा। सृष्टिका लय होगा तो भी नाम बचेगा ही। नाम यानी ईश्वर। नामसे ही अनन्त रूप बनते हैं और उसीमें विलीन होते हैं। रूप नामसे अलग हो ही नहीं सकता। नाम रूपको व्याप्त करके भी शेष बचता है।

[संग्राहक—श्रीगोविन्द सीतारामजी गोखले]

छः महीनेमें ब्रह्मप्राप्तिके साधन

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं कोष्ठे भाण्डमना इव। एकाग्रं चिन्तयेन्नित्यं योगान्नोद्वेजयेन्मनः॥
येनोपायेन शक्येत सन्नियन्तु चलं मनः। तं च मुक्तो निषेवेत न चैव विचलेत्ततः॥
शून्या गिरिगुहाश्चैव देवतायतनानि च। शून्यागाराणि चैकाग्रो निवासार्थमुपक्रमेत्॥
नाभिष्वजेत्परं वाचा कर्मणा मनसापि वा। उपेक्षको यताहारो लब्धालब्धे समो भवेत्॥
यश्चैनमभिनन्देत यश्चैनमपवादयेत्। समस्तयोश्चाप्युभयोर्नाभिध्यायेच्छुभाशुभम्॥
न प्रहृष्येत लाभेषु नालाभेषु च चिन्तयेत्। समः सर्वेषु भूतेषु सधर्मा मातरिश्वनः॥
एवं स्वस्थात्मनः साधोः सर्वत्र समदर्शिनः। षण्मासान्नित्ययुक्तस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(महा० शान्ति० २४०। २६—३२)

धनमें जिसका मन होता है। वह जैसे धनकी चिन्ता करता है, वैसे ही योगी इन्द्रियोंको नियममें रख एकाग्र हो आत्माका चिन्तन करे, योगसे मनको उद्विग्न न होने दे। जिन साधनोंसे चंचल मन वशमें हो सकता हो, उनका सेवन करे, और उन साधनोंसे हटे नहीं। योगी मनको एकाग्र करके पर्वतोंकी निर्जन गुफाओंमें, देवताओंके मन्दिरोंमें अथवा शून्य गृहोंमें रहनेका उपक्रम करे। योगी मन, वाणी तथा कार्यसे किसीका भी संग न करे; क्योंकि वस्तुओंका संग्रह अथवा संग योगियोंको दु:खदायी हो जाता है। सबकी ओरसे उपेक्षा रखे, नियमित रीतिसे आहार करे, लाभसे प्रसन्न न हो, और हानिसे उदास भी न हो। निन्दा करनेवाले और प्रणाम करनेवालेपर समानदृष्टि रखे, किसीकी भलाई-बुराईका चिन्तन न करे, लाभ होनेपर हर्षित न हो और हानि होनेपर चिन्ता भी न करे। सब प्राणियोंपर समभाव रखे और वायुके समान कहीं आसक्त न हो। इस प्रकार मनको स्वस्थ रखनेवाला साधनामें लगा हुआ, सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला छः महीनेतक नित्य नियममें रहनेवाला पुरुष ओंकारस्वरूप ब्रह्मका दर्शन करके ब्रह्मरूप हो जाता है।

साधकोंके प्रति—

शरीर और संसारको अस्थिर मानो

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

यह सबके अनुभवकी बात है कि यह सब-का-सब दृश्य अदृश्य हो रहा है। यह जो संसार दीख रहा है, यह मिट रहा है। एक क्षण भी इसमें स्थिरता नहीं है। इसमें स्थिरता माननेसे ही राग-द्वेषादि द्वन्द्व होते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

(गीता ७। २७)

इच्छा (राग) और द्वेषसे ही सब द्वन्द्व पैदा होते हैं। इन द्वन्द्वोंसे मोहित होकर यह जितना भी प्राणी-समुदाय है, यह वास्तविकताको नहीं जानता। इस द्वन्द्वसे ही सम्मोह पैदा होता है। तो इस कारण वह तत्त्वको जान नहीं सकता। अतः राग-द्वेष, हर्ष-शोक पैदा होते हैं—नश्वर शरीर और संसारको स्थिर माननेसे 'है' ऐसा माननेसे। यह सबके अनुभवकी बात है कि ये स्थिर नहीं हैं। सन्तोंने कहा है—

काची काया मन अथिर, थिर-थिर काम करंत।
ज्यों-ज्यों नर निधड़क फिरै, त्यों-त्यों काल हसंत॥

युधिष्ठिरजी महाराजने कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(महा० वन० १३। ११६)

इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा कि सब-के-सब अदर्शनमें जा रहे हैं, यमराजके घर जा रहे हैं, और इच्छा करते हैं स्थिरताकी! जो स्थिरता कभी रहती नहीं, और अभी भी स्थिरता है नहीं, और कभी भी स्थिरता रहेगी नहीं। यहाँ तो केवल सेवा करनेके लिये आना हुआ है। शरीरसे, मनसे, वाणीसे, पदार्थोंसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे औरोंकी सेवा बन जाय, औरोंको सुख हो जाय, औरोंका भला हो जाय, औरोंका हित हो जाय—यह काम हमें करना है। इसमें बाधा होती है—संग्रह कर लें और सुख भोगें अर्थात् संग्रह करनेकी और सुख भोगनेकी आसक्ति। भगवान् कहते हैं—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

(गीता २। ४४)

भोग और संग्रहकी इच्छा होती है कि सुख भोग लूँ, संग्रह कर लूँ। इसी कारण एक परमात्माकी तरफ ही चलना है। यह निश्चय नहीं होता। इस निश्चयमें जितनी शक्ति है, उतनी किसी साधनमें नहीं है। नामजप, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, तप, तीर्थ, व्रत आदि साधन बड़े श्रेष्ठ हैं। वास्तवमें यह बात ठीक है। परन्तु भीतरकी जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, वह यथार्थ ठीक होती है। उसका बहुत ज्यादा मूल्य होता है। भगवान्ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

साधन करनेवाला सदाचारी होता है। पर सुदुराचारी—सांगोपांग दुराचारी भी अन्यका भजन न करके, अन्यका आश्रय न रखकर भजन करता है, तो उसे साधु मान लेना चाहिये—**'साधुरेव स मन्तव्यः'** यह भगवान्की आज्ञा है। जब भगवान् उसे सुदुराचारी स्वीकार करते हैं, तो उसे साधु कैसे मानें? तो कहा—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'** अर्थात् उसने निश्चय पक्का कर लिया कि केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है। यह सम्पूर्ण साधनोंकी मूलभूत साधना है। इससे अपने-आप सब ठीक होगा। जैसे किसीके मनमें निश्चय हो जाय कि मुझे बदरीनारायण जाना है, तो कैसे जाना है? रास्ता कैसा है? कितना है? आदि बातें स्वतः पैदा होंगी। स्वतः जिज्ञासा पैदा होगी। खोज करनेपर बतानेवाले और सहायता करनेवाले भी मिल जायँगे। ज्यों-ज्यों चलेगा, त्यों-त्यों आगे

चलनेका सामान भी मिलेगा और उपाय भी कर लेगा। सब कुछ हो जायगा। तो एक निश्चय हो जानेसे सब काम बन जाता है। ऐसा निश्चय कब होता है? जब यहाँकी अस्थिरता देखता है। परंतु भूलसे स्थिरता देखकर यहाँ ही डेरा लगा देता है कि बस, यहाँ ही रहना है। पर अभीतक जितने आये, कोई यहाँ नहीं रहा। अच्छे-अच्छे महात्मा, पीर, औलिया, सन्त हो गये; वे भी चले गये। भगवान्ने भी अवतार लिये, पर हमारे इस मृत्युलोकके रिवाजको नहीं तोड़ा। वे भी चले गये। यहाँ रहनेकी रिवाज नहीं है, इस वास्ते यह जाने-ही जानेवाला है। अगर यह ठीक जागृति रहे, तो बहुत ही लाभ है।

जैसे कार्यालयमें काम करने जाते हैं, तो भीतर यह बात बैठी रहती है कि कार्य समाप्त होते ही घर चल देंगे। इस बातको याद नहीं करते, इसका चिन्तन नहीं करते, इसका जप नहीं करते। परंतु बात भीतर जमी रहती है। इस तरह जो संसारमें रहनेकी बात है, वह बिलकुल उलटी बात है, और यहाँ न रहनेकी बात बिलकुल सही बात है। सही बातको मान लें। इसमें कुछ करना नहीं पड़ता। इसे निर्विकल्परूपसे मान लेनेपर फिर यह विचारका विषय नहीं रहता। इस बातको मान लें, तो बड़े भारी लाभकी बात है। ये जितने साधन हैं, सब इसके ऊपर आधारित हैं। यह सबकी आधारशिला (नींव) है। आस्तिक हो या नास्तिक, कोई क्यों न हो, यह सबके लिये सही बात है और ठीक अनुभवकी बात है। ऐसा नहीं कि शास्त्रोंमें लिखा है, मान लो; तो जिसकी श्रद्धा होगी, वह मान लेगा और जिसकी श्रद्धा नहीं होगी, वह नहीं मानेगा। इसमें तो श्रद्धाकी भी जरूरत नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष और सीधी बात है कि हमारा बालकपना चला गया। उसे ढूँढ़ें, तो वह मिलता नहीं। ऐसा ही प्रवाह अभी भी चल रहा है।

एक परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही हमारा आना हुआ है। उसीको प्राप्त करना है। पर यह तब होगा, जब इस संसारको अप्राप्त मानें। संसार प्राप्त नहीं हुआ है। हम अचल हैं* और यह सब चल है। चलके साथ मिलनेसे अपनेमें अस्थिरता मालूम देती है। स्थिर होते हुए भी अपनी स्थिरताका अनुभव नहीं होता। जैसे, हम गाड़ीमें जा रहे हैं और गाड़ी किसी छोटे स्टेशनपर ठहर गयी; क्योंकि सामनेसे दूसरी गाड़ी आ रही है, वह गाड़ी आकर दूसरी लाइनमें ठहर जाती है, हम उस गाड़ीकी तरफ देखते हैं, वह गाड़ी चल पड़ती है, तो मालूम होता है कि हम चल रहे हैं, जबकि हमारी गाड़ी स्थिर है, ऐसे ही यह शरीर-संसाररूपी गाड़ी चल रही है और उधर दृष्टि रहनेसे हम देखते हैं कि हम जवान हो रहे हैं, हम बूढ़े हो रहे हैं आदि। ऐसा दीखता है कि हम जा रहे हैं, पर जा रहा है शरीर। इस प्रकार शरीर-संसारको तो स्थिर मान लिया और अपनेको जानेवाला मान लिया। शरीर-संसारको स्थिर माननेसे द्वन्द्व पैदा होते हैं, और द्वन्द्वोंसे मोह पैदा होता है। इस वास्ते जो द्वन्द्वमोहसे रहित होते हैं, वे दृढ़व्रती होकर भगवान्का भजन करते हैं—

'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥'

(गीता ७। २८)

राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—

'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥'

(गीता ५। ३)

'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥'

(गीता १५। ५)

इसलिये भगवान् आज्ञा देते हैं कि तुम निर्द्वन्द्व हो जाओ—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(गीता २। ४५)

हम निर्द्वन्द्व कब होंगे? जब शरीर-संसारको अस्थिर मानेंगे तब। अस्थिर माननेसे फिर राग-द्वेष नहीं होंगे।

* नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (गीता २। २४)

आनन्दभूमि वृन्दावन एवं कृष्णका वेणुगीत

(पद्मश्री प्रो० श्रीअभिराज राजेन्द्रजी मिश्र)

नन्दनन्दन कृष्ण एवं वृषभानुलली राधाकी प्रणयलीलाओंने वृन्दावनको 'आनन्दभूमि' बना दिया। कुरुक्षेत्रने भारतको धर्मभूमि, काशीने मुक्तिभूमि एवं वृन्दावनने उसे आनन्दभूमि बनाया—इसमें कोई संशय नहीं। यद्यपि श्रीमद्भागवतके प्रमाणानुसार गोकुल एवं वृन्दावनमें अपनी भुवनमोहिनी लीलाएँ सम्पन्न करनेवाले कृष्ण मात्र ग्यारह वर्ष पाँच महीनेके थे। वयकी दृष्टिसे उन्हें नायक नहीं माना जा सकता। तथापि उनके प्रति गोपवधूटियोंके असांसारिक विलक्षण दुर्वार आकर्षणको भी नकारा नहीं जा सकता; क्योंकि ऐसा प्रेम सम्भव है, जो रतिभावके समस्त मानकोंको झूठा सिद्ध कर दे।

जिन श्रीकृष्णके प्रेमरसमें निमज्जित व्रजांगनाएँ आत्मविस्मृत हो उठी हैं, उन ब्रजचन्द्रसे मिलनेकी उत्कण्ठा, त्वरा, विवशता एवं असहायताका क्या कहना? कितनी अधीरता एवं व्याकुलता है इस चिरौरी-विनतीमें—

सखि! तो पहँ जाचन आई हूँ मैं उपकार कै मोहि जियावहि तू,
तोहिं तात की सौं, तोहिं मात की सौं यह बात न काहूँ जनावहि तू।
तुव चेरी हौं होऊँगी 'दास' सदा ठकुरायन मेरी कहावहि तू,
कटि फन्द कछू मोहिं चार जनी सजनी! ब्रजचन्द मिलावहि तू॥

समूचे ब्रह्माण्डका चैतन्यरस है यह वंशीरव! जब माधव वंशीवादन करते हैं तो समूचा ब्रह्माण्ड उनकी वंशीध्वनिमें समा जाता है। सारी प्रकृति निष्क्रिय हो उठती है। दूध पीते गायोंके बछड़े, बहती हुई यमुना, वातान्दोलित कदम्ब-द्रुम उतनी अवधिके लिये चित्रलिखितसे हो उठते हैं। मुकुन्द माधवकी वंशीध्वनिको भला कौन चुनौती दे सकता है? हाँ, एक ही उपाय है उसके ऐन्द्रजालिक प्रभावसे बचनेका कि उसे सुनो ही नहीं। शायद ऐसा करनेसे त्राण मिल जाय।

सुनती हौ कहा, भजि जाउ घरै, बिंधि जाहुगी नैन के बानन में
यह बंसी 'नेवाज' भरी बिष सों, बगरावति है बिस प्रानन में।
अबही सुधि भूली हौ मेरी भटू! भभरौ जनि मीठी-सी तानन में
कुलकानि जौ आपनि राख्यौ चहौ, दै रहौ अँगुरी दोउ कानन में॥

परंतु इस वंशीध्वनिसे पिण्ड कैसे छूटे? नन्दनन्दन कृष्ण प्रतिक्षण तो वंशी बजाते नहीं, कभी-कभी एकान्तमें गोचारणवेलामें वंशी बजाते हैं। परंतु गोपियाँ तो उस वंशीध्वनिमें इतनी समरस हैं, इतनी दत्तचित्त हैं, इतनी निमग्न हैं कि उन्हें वह प्रतिक्षण बजती-सी ही प्रतीत होती है। वे उस हृदयावर्जक मुरलीध्वनिको प्रत्यक्ष सुनती हैं। अब यह तो एक अद्भुत समस्या है। यह तो वंशीरव नहीं, योगियोंका अनहद नाद हो गया। सम्पूर्ण जीवन-चेतना ही वंशीध्वनिमय है। महाकवि 'घनानन्द' ने भी उस नित्य वंशीरवको सुना है—

मँडराति रहै धुनि कानन मैं अजकौ अपराजिबौई सी करैं,
ब्रजमोहन सोहन जोहन के अभिलाषि समाजबौई सी करैं।
'घन आनँद' नाद अखण्डित सौं, सरसै सुरसाजिबौई सी करैं।
कितकौं यह बैरिनि बाँसुरिया बिनु बाजेउ बाजिबौई सी करै॥

इस वंशीध्वनिने ही वृन्दावनमें एक नया समाज स्थापित कर रखा है। यह समाज केवल व्रजांगनाओं एवं उनके सम्पूर्ण जीवन-सूत्रधार कृष्णका है। इस समाजका आचरण विलक्षण है, इसकी मर्यादाएँ विलक्षण हैं। इस समाजमें जो भी, शरीर या मनसे प्रवेश करता है, वही तद्रूप हो जाता है। कृष्णमयता ही इस समाजका सत्य है। यहाँ सब कुछ कृष्णमय है। अण्डज, पिण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज—सब कृष्णरूप हैं। कृष्णचेतनाके अतिरिक्त यहाँ और कोई सत्ता है ही नहीं। व्रजांगनाओंको स्वयमेव यह ज्ञात नहीं कि कृष्ण उनके क्या लगते हैं? वे कृष्णके बिना क्यों नहीं जी पातीं?

सखि! तैंहू हुती निसि देखत ही जिनपै वै भई हीं निछावरियाँ
जिन पानि गह्यो हुतो मेरो जबै सब गाव उठी ब्रज डावरियाँ।
अँसुवा भरि आवत मेरो अजौ सुमिरे उनकी पद-पाँवरियाँ
सखि! को हैं, हमारे वे कौन लगें, जिनके सँग खेलिहीं भाँवरियाँ॥

अपने काव्यसंसारका स्रष्टा (ब्रह्मा) तो कवि स्वयं ही होता है। ब्रह्मा अपनी सृष्टिमें स्वतन्त्र नहीं; क्योंकि

उसे प्रत्येक जीवका निर्माण उसके (अच्छे-बुरे) कर्मविपाकके अनुसार ही करना पड़ता है। परंतु कविकी सृष्टि 'अनन्यपरतन्त्र' है। वह अपनी सर्जना अपनी रुचिके अनुसार ही करता है—**यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।**

प्रेमका संसार भी कवि अपनी अभिरुचिके ही अनुसार रचता है। कविकी सृष्टिमें प्रेम 'प्रेम' है। वह वैध-अवैध नहीं होता, उचित-अनुचित नहीं होता है। रीतिकालीन हिन्दी कवियोंने इस सन्दर्भमें अद्भुत परिकल्पनाएँ की हैं, जो समूची विश्वकविताका शृंगार हैं। आश्चर्य होता है सहृदय कवियोंकी उन अद्भुत काल्पनिक उड़ानों एवं उत्प्रेक्षाओंको पढ़कर, अनुभवकर। एक मालिनके घरमें आग लग गयी है। परंतु घर जलनेकी उतनी चिन्ता या 'हाय-हाय' मालिनको नहीं, जितनी कि किसी औरको हो रही है। आखिर क्यों? इसलिये कि अब 'एकान्त-मिलन' कहाँ हो पायेगा? यह मालिनका घर ही नहीं, प्रेमी एवं प्रेमिकाका निर्विघ्न संकेतस्थान भी तो था। मालिनकी बजाय उस ग्वालिनकी व्यथा देखें—

'दासजू' बाकी तौ द्वार की सूनी कुटी जरै, यातें परै दुख थोरे
भारी दुखारी अटारी चढ़ी यहै रोवै, हनै छतियाँ, सिर फोरे।
हाय भरै, कहै लोगनि देखि, अरे निरदै कोउ पानी लै दौरै
आगि लगी लखि मालिन के, लगी आगि है ग्वालिन के उर औरै॥

परंतु उस व्रजांगनाके हृदयानन्दका क्या कहना, जिसे नन्दनन्दनसे मिलनेका 'सर्वार्थसिद्धियोग' स्वतः प्राप्त होने जा रहा है। सारा घर जा रहा है सोमवती अमावस्या नहाने, अकेली वधूको घरमें छोड़कर। परंतु वधू असहाय कहाँ? किशन कन्हाई जो घरकी देख-रेखमें नियुक्त हैं, महाकवि 'दास' 'मुदितविदग्धा' नायिकाका चित्रण करते हैं—

आवती सोमवती सब संग ही गंग-नहान कियौ चहती हैं
गेहु को भार जसोमतिवारे को आजुहि सौंपि दियौ चहती हैं।
मोहि अकेली इहाँ तजि दौसजू जीवन लाहु लियौ चहती हैं
आली कहा कहौ या घर की सिगरी मोहि खाय जियौ चहती हैं॥

यही आनन्दभूमि वृन्दावन कृष्णकी विविध लीलाओंकी स्थली है। ये लीलाएँ किसी एक रसकी नहीं हैं, क्योंकि इन लीलाओंके चिरपिपासु दर्शक किसी एक रसके नहीं हैं। किसीको कृष्णकी वात्सला-दिदृक्षा है, तो किसीको शौर्यपराक्रमकी दिदृक्षा। कोई उनका रौद्ररूप देखना चाहता है तो कोई अद्भुत। कोई उन्हें करुणामें डूबा देखना चाहता है तो कोई परम शान्त स्वरूप। भगवान् भक्तप्रणयी हैं। यशोदा, गोपीजन, अक्रूर, कंस, दुर्योधन, अर्जुन, भीष्म तथा व्याध—सबको वह अपनी 'नवरसरुचिरा' लीला दिखाते हैं, वृन्दावनमें तथा अन्यत्र भी।

नन्दनन्दन कृष्णका वंशीवादन भारतीय संस्कृतिका प्राणतत्त्व है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका सम्पूर्ण जीवन यदि उनके 'कराल शरसन्धानों' से रेखांकित है तो लीलापुरुषोत्तम कृष्णका उनके भुवनमोहन वंशीवादनसे। अपनी अधरसुधासे वेणुरन्ध्रोंको पूरित करते कृष्ण जब वृन्दावनमें गोपवृन्दोंके साथ प्रविष्ट होते थे तो समस्त भुवनोंकी चेतना, वंशीवादनकी अवधितक मानो स्थगित हो उठती थी। निनादित वंशीके विलक्षण गायनको सुनकर, विमानपर संचरण करतीं देवांगनाओंके मणिबन्ध स्वतः शिथिल हो उठते थे। कबरीबन्धोंमें गुँथे फूल, स्वरवेदनाके तापसे कुम्हलाकर गिर जाते थे और वे अपनी सुध-बुधतक खो बैठती थीं, देववनिताओंकी उस दशाका वर्णन करते हुए महर्षि कृष्णद्वैपायन लिखते हैं—

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं श्रुत्वा च तत्क्वणितवेणुविचित्रगीतम्।
देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥

देवताओं तथा मनुष्योंकी बात छोड़िये। पशु-पक्षी एवं नदी-पर्वत भी कृष्णके वंशीनाद-माधुर्यके सम्मोहनसे अछूते नहीं बचे थे। वंशीरवसे आकृष्ट चेतनावाली हिरनियाँ अपने 'प्रणयावलोकन' मात्रसे मानो कृष्णकी पूजा करने लगती थीं। वंशीके बजते ही उन्मद मयूर नृत्यरत हो उठते थे और गायें उत्तमित कर्णपुटोंसे पीने लगती थीं कृष्णके मुख-कमलसे निर्गत वेणुगीतामृतको! उनके बछड़े स्तनसे निस्यन्दित दूध पीते-पीते स्तम्भित-से हो उठते थे! कितना विचित्र प्रतीत होता है यह कथन कि उस वंशीरवकी मादकतामें डूबी नदियाँ भी आवर्तोंके माध्यमसे अपना मनोभव-भग्नवेश प्रदर्शित करती हुई

ऊर्मिरूपी भुजाओंसे मानो नन्दनन्दनके चरणकमलोंमें कमल-पुष्पोंका नैवेद्य चढ़ाया करती थीं—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥

(श्रीमद्भागवत १०। २१। १५)

भगवान् विष्णुके प्रधान दश (अथवा कुल २४) अवतारोंमें चौबीसवें त्रेतायुग एवं द्वापरकी सन्धि-वेलामें दशरथनन्दन रामका एवं अट्ठाईसवें द्वापरयुगके अन्तिम चरणमें नन्दनन्दन कृष्णका अवतरण हुआ। इन दोनों अवतारोंका उद्देश्य एक ही था—पृथ्वीको पापभारसे मुक्त करना। त्रेतामें यह पापभार रावणसे तथा द्वापरमें आततायी कंससे उत्पन्न होकर 'दुर्वह' बन गया था, अतएव साधुजनोंके परित्राण, दुष्कर्मियोंके विनाश तथा धर्मकी प्रतिष्ठापनाके लिये करुणा-वरुणालय परमेश्वरको धराधामपर आना पड़ा।

दशरथनन्दन मर्यादापुरुष हैं। मर्यादाका अर्थ है—सीमाबद्धता **(मर्यां सीमाम् आदत्ते इति मर्यादा)** और सीमाबद्ध प्राणी लीला नहीं कर सकता; क्योंकि लीला-की सृष्टिमें पद-पदपर मर्यादाएँ छोड़नी पड़ती हैं। यही कारण है कि मर्यादाओंके निर्वाहमात्रमें आद्यन्त केन्द्रित राम जीवनभर कोई लीला नहीं कर सके। मर्यादामें जकड़े राम जब अपनी और लक्ष्मणकी दयनीय दशा देखकर प्राकृत जनकी तरह विषण्ण होते हैं तब विभीषण उन्हें स्मरण दिलाते हैं उनके महाविष्णुत्वका! इस स्मृतिके अनन्तर ही पक्षिराज गरुड़द्वारा नागपाश समुच्छिन्न किया जाता है, परंतु कृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं। जैसे ऐन्द्रजालिक प्रतिक्षण अपनी मायिक-शक्तिकी अनुभूतिसे प्रबुद्ध बना रहता है, वैसे ही कृष्णको प्रतिक्षण अपने परमेश्वरत्वकी, अपने अलौकिकत्वकी प्रत्यग्र अनुभूति है। उनके व्यक्तित्वमें कर्तृत्वका उन्मेष प्रतिक्षण होता रहता है। परिणामतः यह सुनियोजित रूपसे प्रतिदिन कोई-न-कोई विलक्षण लीला रमाते रहते हैं। कभी माखनचोरी तो कभी कालियदमन, कभी चीरहरण तो कभी गोवर्धनधारण, कभी ब्रह्माका मानमर्दन, तो कभी यमलार्जुन-उद्धार। वस्तुतः कृष्णका सम्पूर्ण जीवन-चक्र ही विविध भुवनमोहिनी लीलाओंका समवाय है।

यद्यपि भगवान् कृष्णकी लीलाएँ अत्यन्त गूढ़ हैं। वे सामान्य मानवकी समझसे परे हैं। यहाँतक कि उन लीलाओंका मर्म उनके ही जन्मदाता नन्द-यशोदा नहीं समझ पाते थे। पूतना अथवा तृणावर्तके प्रसंगमें भी माता यशोदाने बस इतना ही समझा कि आँधी-बवण्डरमें उड़ा हुआ उनका बच्चा, प्रभुकृपासे अक्षत बच गया। उन्हें क्या पता कि उस अबोध-शैशवमें भी भगवान् पूरी तन्मयताके साथ असुरोंका वध कर रहे हैं। उस युगमें भी भगवान् कृष्णके 'परमेश्वरत्व'का साक्षात् बोध भगवान् व्यास, पितामह भीष्म एवं उद्धव-सरीखे गिने-चुने महाभागवतोंको ही था।

भगवान् रामने मर्यादाओंकी सृष्टि एवं रक्षाके लिये 'अमोघ शरासन'का आश्रय लिया। परंतु कृष्णने लोकोन्माथी लीलाओंकी सृष्टि एवं रक्षाके लिये 'वंशी' धारण की। वंशी उनके सम्मोहक व्यक्तित्वका अविच्छेद्य अंग थी। पीताम्बर धारण किये, वैजयन्ती माला पहने, कानोंपर कर्णिकार-पुष्प स्थापित किये, मयूरपिच्छ-भूषित जटाजूटवाले नन्दनन्दन कृष्णका वंशी बजाते हुए वृन्दारण्यमें प्रवेश करना—द्वापरयुगका ही नहीं अनाद्यन्त कालावधिकी एक अविस्मरणीय, शाश्वत एवं चिरन्तन उपलब्धि है।

श्रीमद्भागवत-महापुराणका जीवन्त वेणुवादन-सन्दर्भ ही रीतिकालीन हिन्दी-कविताका रसायन बनकर उभरा है। कृष्णलीलाका गान करनेवाले अष्टछापके कवियोंके साथ ही साथ उस युगके अन्यान्य सभी सहृदय कवियोंने कृष्णके वेणुवादनका विविध भावभंगिमाके साथ वर्णन किया। ये वर्णन अत्यन्त सरस, मधुर तथा प्रकरणवक्रतासे ओतप्रोत हैं। शरत्पूर्णिमाकी रात्रिमें जब महारासेच्छुक कृष्णने यमुनातटपर वेणुवादन प्रारम्भ किया तो 'कृष्णगृहीतमानसा' सारी गोपियाँ बरबस खिंची चली आयीं। किस स्थितिमें आयीं! इसका अद्भुत प्रमाण भागवतकार देते हैं—

दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद् दोहं हित्वा समुत्सुकाः।
पयोऽधिश्रित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः॥
परिवेषयन्त्यस्तद्धित्वा पाययन्त्यः शिशून् पयः।
शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिद् श्नन्त्योऽपास्य भोजनम्॥
लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने।
व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः॥

'देव' कवि कहते हैं—

गनैं न कलंक मृदुलंकिनि मयंकमुखी
पंकज परान धाईं भागी निसिपंक मैं।
भूषनन भूलि पैन्हे उलटे दुकूल 'देव'
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि बंक मैं
चूल्हे चढ़े छांड़े, उफनात दूध-भांड़े उन
सुत छांड़े अंक, पति छाड़े परजंक मैं॥

कृष्णकी वंशीके बजते ही सारे ब्रजमण्डलमें कुहराम-सा मच जाता है। प्राणोंको बरबस खींच लेनेवाली वंशीकी तान गोपियोंको अधीर बना देती है। वे विद्युत् गतिसे दौड़ पड़ती हैं, कालिन्दी-तटकी ओर! उन्हें अपने शिथिल वस्त्रों, लड़खड़ाती पदगति तथा वंशीवादनकी सही दिशातकका बोध नहीं। कोई किसी अन्यसे न भागनेका प्रयोजन पूछता है, न ही किशन-कन्हाईका पता-ठिकाना जबकि अभियान सबका समान है, पीर एक-सी है और कृष्णके प्रति सबका चुम्बकीय आकर्षण भी एक-सरीखा है। वेणुनादके सम्मोहनमें मतिभ्रम एवं किंकर्तव्यविमूढ़ताकी स्थितितक पहुँची गोपांगनाओंका परिचय देता है कवि—

मुरली सुनत याम कामजुट लीन भईं
धाईं धुर लीक सुनि विधी बुधुरनि सौं।
पावस न दीसी यह पावस नदी सी फिरैं
उमड़ी असंगत तरंगित उरनि सौं।
लाजकाज सुखसाज बंधन समाज नाँघि
निकसी निसंक सकुचै नहीं गुरनि सौं।
मीन ज्यों अधीनी गुनकीनी खैंचि लीनी 'देव'
बंसीवार बंशी डारि बंसी के सुरनि सौं॥

'बंसी' शब्दके श्लेष-सौन्दर्यमें पगी यह घनाक्षरी साकार कर देती है गोपियोंकी भागमभागको।

कृष्णके प्रति गोपवधूटियोंकी आसक्तिकी व्याख्या कर पाना कठिन है। भगवान् कृष्णद्वैपायन भी 'इदमित्थम्' कह पानेमें स्वयंको असमर्थ पाते हैं। साँवरे-सलोने कृष्ण उन गोपियोंके क्या लगते थे? कुछ नहीं! पुत्र तो वह वसुदेव-देवकीके थे। पालित पुत्र भी नन्द-यशोदाके थे। परंतु गोपाङ्गनाओंके तो वह न पुत्र थे, न भाई, न ही अन्य कुटुम्बी। बारहवर्षीय कुमार कृष्णके प्रति गोपियोंका 'कान्ता भाव' भी सम्भव नहीं। प्रेम तो अंकुरित ही होता है, किसी सांसारिक-सम्बन्धसे। परंतु कृष्णके साथ उन युवती गोपांगनाओंका कोई सांसारिक सम्बन्ध नहीं था।

यदि इसके बावजूद भी पति-पुत्रवती तथा यौवनकी उमंगमें डूबी ग्वालिनें उठते-बैठते, सोते-जागते, कोई भी गृहकार्य करते कृष्णप्रेममें ही डूबी रहती थीं तथा कृष्णके साथ अपने विलक्षण, अनिर्वचनीय, अनुभवमात्र-संवेद्य महाप्रभावी रागाकर्षणके समक्ष, पारिवारिक सम्बन्धजन्य राग-प्रपंचको तृणकल्प समझती थीं—तो वह प्रेम निश्चय ही दिव्यकोटिक आर्त प्रेम रहा होगा। वह सात्त्विक प्रणय निश्चय ही भोग एवं वासनाके धरातलसे बहुत ऊपर, सांसारिक रागबन्धके शिखरपर आरूढ़ था।

श्यामसुन्दरके लोकविलक्षण प्रेममें डूबी गोपाङ्गनाएँ राग-बोधके उस शिखरतक जा पहुँची थीं—सहज मार्गसे, जहाँतक योगी-यती भी नहीं पहुँच पाते, जीवनभरकी कठोर साधना एवं तपस्याके बावजूद। गोपियोंके इस विलक्षण अनुरागकी लौकिक अभिव्यक्ति असमंजस ही प्रतीत होती हो, परंतु उसका पारमार्थिक स्वरूप अत्यन्त समंजस भी था और गूढ़ भी। प्रेमकी इस संवेदनशील भावभूमिको बिना समझे, नन्दनन्दनके वेणुवादनकी ऐन्द्रजालिकताकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

वंशीनादकी तन्मयताने बेचारी ग्वालिनको विक्षिप्तताकी सीमातक पहुँचा दिया है। माँको आशंका है कि किसीने बिटियापर टोना कर दिया है। सासको गन्ध मिलती है बहूके किसी षड्यंत्रकी। यूँ ही, जितने मुँह उतनी बातें!

परंतु सारे फसादकी तो जड़ है कान्हकी बंसरी!!

आज भटू इक गोपबधू भई बावरी, नैकु न अंग सम्हारै
माय सुभाय कै टोना सों ढूँढति, सासु सयानी सयानी पुकारै।
यौं रसखानि घिरौ सिगरौ व्रज, आन को आन उपाय बिचारै
कोऊ न कान्हा के करते वहि बैरिनि बाँसुरिया गहि जारै॥

है कोई रूपगर्विता नायिका, जो अभी-अभी आयी है, ब्रजमण्डलमें! ब्रजाङ्गनाओंका वंशीनाद-सम्मोहन उसकी समझमें नहीं आता। यह वंशीनाद भला उसे तो 'टस-से-मस' करके देख ले! कुछ नहीं होगा! परंतु तभी उस अल्हड़ ग्वालिनको समझाती हैं अनुभवी सखियाँ!!

बातैं बनाय बनाय कहौ कहिये, 'रघुनाथ'की सौंह लरैगी
और न कोऊ बची ब्रज में, इक तू ही है नेम-निबाह करैगी।
आए भए दिन चारि इतै अबहीं, सबही कौ कुनाँव धरैगी
तान भटू मनमोहन की वह कान परैगी, तौ जान परैगी॥

और सचमुच होता वही है। कृष्ण-रूपकी रसमाधुरीमें डूबते ही सारा रूपगर्व खो जाता है। ढह जाते हैं निर्बन्धके पर्वत और गल जाता है प्रभावित न होनेका थोथा अहंकार! फिर तो फूटकर बहने लगता है शरीरपर स्वेदका अक्षय स्रोत और आँखोंमें प्रतिक्षण उतरने लगता है—सावन-भादो!! ह्व

परदेशी ग्वालिनकी अकड़ जाती रहती है, बस जाती है कर्णकुहरोंमें बंशीकी ध्वनि एवं प्राणोंमें वंशीधर। वंशीध्वनि कर्णरन्ध्रोंसे होती हुई प्राणोंतक पहुँच ही जाती है। ढह जाता है लोकलाजका सुहृद तटबन्ध। घनानन्द कहते हैं—

हम आपनो सो बहुतेरो पचैं कि बचैं अवलोकनैं एकौ घरी
न रहै बस नैसिक प्रान भिदै छिदै कान ह्वै प्रान सु तीखी खरी।
'घन आनँद' बौरति दौरति ढौरति ढूँढियो पैयति लाज न री
कित जाहिं, कहा करैं, कैसें भरैं यह कान्ह की बाँसुरी बैर परी॥

वेणुनादकी प्रभविष्णुताका क्या कहना? ब्रजाङ्गनाओंके लिये यह शाश्वत एवं चिरन्तन है। वंशीध्वनि उनके कानोंमें निरन्तर मँडराती रहती है। वह अखण्ड नाद ही उनकी जिजीविषाका माध्यम बन गया है; क्योंकि मधुसूदनकी वंशी बिना बजाये भी, बजती-सी ही रहती है।

मनमोहन कृष्णके अनुरागमें डूबी व्रजांगनाओंके लिये जीवन कितना विषम है? बिना कृष्णदर्शनके रह पाना कठिन है और यदि दर्शनका कोई अवसर ढूँढ़नेसे मिल भी गया तो लोग भला जीने देंगे? फिर तो कृष्णरूपरसमाधुरीकी प्यासी गोपियोंको शाश्वत आनन्दानुभूतिका एक ही मार्ग दिखायी पड़ता है। वह यह कि गहन वनमें जाकर कठोर तप किया जाय ताकि वनमाला अथवा वंशीका जन्म मिले। ऐसा होनेसे या तो नन्दनन्दनके सतत वक्षोविहारका सुख प्राप्त होगा या फिर उनके अधररस-पानका अमृतयोग—

क्यौं इन आँखिन सों निरंसक ह्वै मोहन को तन पानिप कीजै
नेकु निहारे कलंक लगै, यहि गाँव बसे कहो कैसे कै जीजै?
होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ वन जाय बड़ो तप कीजै
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरारस पीजै॥

और अन्तमें मनमोहन कृष्णकी वंशी एवं वंशीनादकी समीक्षा! व्रजाङ्गनाएँ सोचती हैं कि आखिर बाँसुरीमें हमारे हृदयोंको भेद देनेकी क्षमता आयी कहाँसे? और फिर किशन कन्हाईके अधरामृत-संस्पर्शके बाद भी इस 'मुई' वंशीकी धुनमें यह विषम ज्वाल कहाँसे? तभी उन्हें स्मरण हो आता है, शैशवमें मुकुन्द माधवद्वारा दावानलका पान! उस हृदयस्थ दावाग्निका ही दुष्प्रभाव है कि अधर-रसामृत भी वंशीनादको मधुर नहीं बना पाता और वह गोपियोंके हृदयोंमें दाहका संचार कर देती है। रही, हृदयको बींध देनेकी बात, तो वह भी असम्भव नहीं! क्योंकि कारणके गुण-दुर्गुण कार्यमें स्वतः संक्रान्त हो उठते हैं। जब पर्वतोंको फोड़कर बाँस उग जाता है तो फिर उसी बाँससे बनी बाँसुरी हृदयको क्यों न बींध दे?

पान किये हू दवानल के जेहि कौ अधरारस नाहिं दढ़ै री
ताके लगी मुख सों यह जाय तौ ज्वाल कीताननि क्यों न गढ़ै री।
'गोकुलनाथ'के हाथ बसी है बिसासिनि नाथिबे ही कौ बढ़ै री
छेदति या हिये को बँसुरी सखि! पाहन फोरिकै बाँस कढ़ै री॥

बहरहाल, यह तो हुई शास्त्रीय अथवा दार्शनिक तर्क-वितर्ककी बात। सत्य तो यह है कि—'**स्वभावो दुरतिक्रमः**'। किसी भी वस्तुका सहज स्वभाव कभी भी परिवर्तित नहीं होता! तीखापन मिर्चेका नैसर्गिक गुण है

और माधुर्य शर्कराका। यह गुण शाश्वत है। सज्जनोंकी संगतिमें भी नृशंसोंकी नृशंसता अक्षुण्ण ही बनी रहती है। कालभुजंगिनी-सरीखी इस बाँसुरीका भी स्वभाव है, विषोद्वमन। यह विषोद्गार नन्दनन्दनके चन्द्रमुख-संसर्गसे भी समाप्त नहीं हो पाता।

सखि जाको है जैसो सुभाव सुनौ वह कोटि उपाय करौ न हिलै
कहूँ कूर बसै सत्संगति जाय तौ करता बाकी न नैकुजं निलै॥
कवि 'गोकुल' जारत है तन को सिगरे व्रजके मन माँरि लिये
सो सुधानिधि से मुख सो लाग कै विष व्यालिनि बाँसुरिया उगिलै॥

वेणुमुखसे उद्वमित वही विष सम्पूर्ण ब्रजमण्डलमें व्याप्त हो उठा है, जिसमें साँस ले रही हैं भाग्यकी मारी व्रजवधूटियाँ। परंतु इस विषाक्त वातावरणमें ही अमृतकी शीतल फुहारें भी हैं। इस विषजन्य-मूर्च्छामें ही जीवनका शाश्वत रसायन भी है, यशोमतिके छोरे ने विष बगरानेके बहाने सचमुच व्रजरजमें अमृतरस घोल दिया है—

दूध दुह्यो सीरो पर्यो तातो न जमायो कर्यो,
जामन दयो सो धर्यो धर्योई खटाइगो।
आन हाथ, आन पाय सबही के तबहीं तें,
जबहीं तें रसखानि ताननि सुनाइगो॥
ज्यों ही नर त्यों ही नारी तैसी ये तरुनवारी,
कहिये कहा री सब ब्रज बिललाइगो।
जानिये न आली यह छोहरा जसोमति को,
बाँसुरी बजाइगो कि बिष बगराइगो॥

बोधकथा—

श्रीनारदजीका अभिमान-भंग

एक बार श्रीनारदजीके मनमें यह दर्प हुआ कि मेरे समान इस त्रिलोकीमें कोई संगीतज्ञ नहीं। इसी बीच एक दिन उन्होंने रास्तेमें कुछ दिव्य स्त्री-पुरुषोंको देखा जो घायल पड़े थे और उनके विविध अंग कटे हुए थे। नारदके द्वारा इस स्थितिका कारण पूछनेपर उन दिव्य देव-देवियोंने आर्त स्वरमें निवेदन किया—'हम सभी राग-रागिनियाँ हैं। पहले हम अंग-प्रत्यंगोंसे पूर्ण थे; पर आजकल नारद नामका एक संगीतानभिज्ञ व्यक्ति दिन-रात राग-रागिनियोंका अलाप करता चलता है, जिससे हमलोगोंका अंग-भंग हो गया। आप यदि विष्णुलोक जा रहे हों तो कृपया हमारी दुरवस्थाका भगवान् विष्णुसे निवेदन करेंगे और उनसे प्रार्थना करेंगे कि हमलोगोंको इस कष्टसे शीघ्र वे मुक्त कर दें।'

नारदजीने जब अपनी संगीतानभिज्ञताकी बात सुनी, तब वे बड़े दुखी हो गये। जब वे भगवद्धाममें पहुँचे, तो प्रभुने उनका उदास मुखमण्डल देखकर उनकी खिन्नता और उदासीका कारण पूछा। नारदजीने सारी बात बता दी। भगवान् बोले—'मैं भी इस कलाका मर्मज्ञ कहाँ हूँ। यह तो भगवान् शंकरके वशकी बात है। अतएव उनके कष्ट दूर करनेके लिये शंकरजीसे प्रार्थना करनी चाहिये।'

जब नारदजीने महादेवजीसे सारी बातें कहीं, तब भगवान् भोलेनाथने उत्तर दिया—'मैं ठीक ढंगसे राग-रागिनियोंका अलाप करूँ तो निःसन्देह वे सभी अंगोंसे पूर्ण हो जायँगी; पर मेरे संगीतका श्रोता कोई उत्तम अधिकारी मिलना चाहिये।' अब नारदजीको और भी क्लेश हुआ कि 'मैं संगीत सुननेका अधिकारी भी नहीं हूँ।' जो हो, उन्होंने भगवान् शंकरसे ही उत्तम संगीत-श्रोता चुननेकी प्रार्थना की। उन्होंने भगवान् नारायणका नाम निर्देश किया। प्रभुने भी यह प्रस्ताव मान लिया। संगीत-समारोह आरम्भ हुआ। सभी देव, गन्धर्व तथा राग-रागिनियाँ वहाँ उपस्थित हुईं। महादेवजीके राग अलापते ही उनके अंग पूरे हो गये। नारदजी साधु-हृदय, परम महात्मा तो हैं ही। अहंकार दूर हो ही चुका था, अब राग-रागिनियोंको पूर्णांग देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए। [गर्गसंहिता]

ईश्वरका बोधक शब्द 'प्रणव'

(डॉ० श्रीइन्द्रमोहनजी झा 'सच्चन', पी-एच०डी० (आयुर्वेद), डिप्लोमा इन योग)

योगशास्त्रमें ईश्वरका वाचक शब्द प्रणव ओम् (ॐ) है। योगसूत्र (१।२४)-में पतंजलिने कहा है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

अविद्यादि दु:ख,कर्म, उनके परिणाम और आशय जिसको छू भी न सके; वह सृष्टिकर्ता, रक्षक और संहर्ता ईश्वर है। उसीका नाम प्रणव अर्थात् ओम् है। पहलेके जितने ऋषि, महर्षि, सिद्ध हो गये हैं; उन सबका गुरु ईश्वर है। उस ईश्वरको हम देख नहीं सकते। जो पदार्थ कभी देखा ही न हो, उसे जानना और भी कठिन है। परंतु इतनी सुविधा है कि '**तस्य वाचकः प्रणवः**' (यो०सू० १।२७)। अर्थात् उस ईश्वरको बतलानेवाला प्रणव=ओम् (ॐ) है। **प्र+नु+अप् प्रकर्षेण स्तूयत इति प्रणवः,** अर्थात् जिस शब्दके द्वारा उत्कृष्टरूपसे स्तुति की जाती है, वह शब्द 'प्रणव' कहा जाता है। उस 'प्रणव' का स्वरूप है 'ओम्'। यह 'ओम्' शब्द 'ओम्'—ध्वनिरूप है। इसलिये इसे 'ओंकार' नामसे प्रकट किया जाता है। संसारकी अन्य भाषाओंमें ओंकारको भिन्न-भिन्न रूपोंमें सम्बोधित किया जाता है, यथा—ग्रीकमें '**ओमेगा**', फारसी और अरबीमें '**आमीन**' हिब्रू ओर ख्रिस्तयोंकी प्रार्थनामें '**एमेन**' आदि। प्रणव तथा ओंकार पर्यायवाचक शब्द हैं।

दूसरे शब्दोंमें—'**प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति, स्तौतीति वा प्रणव ओङ्कारः**' (भोजवृत्ति)। नम्रतासे स्तुति की जाय, जिसके द्वारा अथवा भक्त जिसकी उत्तमतासे स्तुति करता है, वह 'प्रणव' कहलाता है। वह 'ओम' ही है। 'ओम' यजुर्वेद (४०।१०)-के अनुसार ईश्वरवाचक ही है। या यूँ कहें कि ईश्वरका मुख्य नाम 'ओम' है।

अथर्ववेदमें उसीके द्वारा ईश्वरको पुकारनेका विधान है। मन्त्रमें कहा है कि सूर्योदयसे पूर्व तथा उषासे भी पूर्व जो परमात्माके नामद्वारा उसका स्मरण करता है, वह '**स्वात्मराज्य**'को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मन आदि एकाग्र होकर आत्माके अधीन हो जाता है, जिससे बढ़कर अन्य कोई स्थिति नहीं है।[1] ईश्वरके गुण-कर्म-स्वभाव अनन्त होनेके कारण उसके नाम भी अनन्त हैं, परंतु **वेदादेश** है 'मननशील मन ज्ञानकी प्राप्ति या संसारके अन्य कार्योंकी सिद्धिहेतु 'ओम्' पद-वाच्य परमेश्वरमें ही प्रतिष्ठित करना योग्य है। साधक भी निवेदन कर रहा है कि 'मेरा मन उस 'ओम' में स्थित हो जाय।'[2]

श्रुतिमें ईश्वरके विविध नाम-रूपोंका पर्यवसान 'ॐ' में है। कठोपनिषद् (१।२।१५)-में कहा गया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

अर्थात् सभी वेद जिस पदका मनन करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ—वह '**ॐ**' है। इस ॐ के जपका निर्देश महर्षि पतंजलि भी अपने 'योगदर्शन' के '**तस्य वाचकः प्रणवः**' (१।२७) एवं '**तज्जपस्तदर्थ-भावनम्**' (१।२८) आदि सूत्रोंसे निर्दिष्ट करते हैं।

'ॐ' साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१०।१५)-में '**गिरामस्म्येकमक्षरम्**' कहकर इसे सुस्पष्ट किया है। इसी जपयोगकी महत्ताको '**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि**' से निर्दिष्ट करते हुए वे उसे अपनी विभूति बतलाते हैं।

अ+उ+म्, इन तीन अक्षरोंका बना हुआ ॐ है। इनमें ऋग्वेदके जितने मन्त्र हैं, सबका सार 'अ' में ले लिया गया है। यजुर्वेदका 'उ' में और सामवेदका 'म' में। इस प्रकार अ+उ+म् व्याकरणके नियमानुसार मिलकर एक अक्षर 'ॐ' बनकर अपने महत्त्वसे परब्रह्मका प्रतिपादक है। इसमें सबसे प्रथम महर्षि मनुका वचन देखिये—'**एकाक्षरं परं ब्रह्म**' (ॐ ही परब्रह्म है)। कठोपनिषद् (१।२।१६)-में एक (ॐ) अक्षरके महत्त्वमें कहा है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥

'ॐ' ही अक्षर कभी नाश न होनेवाला ब्रह्म है, यही परब्रह्म है, इस ज्ञानसे मनुष्य-उपासक, जिस पदार्थकी

१-नाम नाम्ना जोहवीतिपुरा सूर्यात् पुरोषसः (अथर्व० १०।७।३१)। २-मादयन्तामों३ प्रतिष्ठ (यजु० २।१३)।

इच्छा करता है, उसे सिद्ध कर लेता है। उदाहरणस्वरूप दूधको ले लीजिये, उसमें मक्खन भरा हुआ रहता है, क्योंकि दूधका सार भाग मक्खन उस दूधको मथकर ही निकल सकता है। दूधके स्थानमें उपासककी देह है। मथनदण्ड ओंकारके दृढ़ घर्षण करनेसे मक्खनस्थानीय ज्योतिरूपके दर्शनमें कुछ संशय नहीं रहता।

प्रणव त्र्यक्षरमय है अर्थात् अ, उ और म् ओंकाररूपी प्रणव होता है। इसके तीनों अक्षरोंमें त्रिगुणमयी प्रकृति क्रमशः अपने तीनों गुणों तमस्, रजस् और सत्त्व अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों जगत्सहित तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उनके अधिष्ठाता विराट् हिरण्यगर्भ और ईश्वररूपसे अथवा सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी अपेक्षासे ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे विद्यमान हैं और प्रणव ही ईश्वररूप है।

वैज्ञानिक दृष्टिसे प्रणवका स्वरूप यह है कि जहाँ कोई कार्य है, वहाँ अवश्य कम्पन होगा और जहाँ कम्पन होगा, वहाँ अवश्य ही कोई शब्द होगा। अतः सृष्टिके आदि कारणरूप कार्यकी ध्वनि ही ओंकार है। प्रणवध्वनि ही ओंकार है। प्रणव-ध्वनिरूप ध्वन्यात्मक शब्दका रूप वर्णात्मक प्रतिशब्द होनेके कारण शाब्दिक ओंकार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वापर सम्बन्धसे ईश्वरवाचक होकर प्रणव कहलाते हैं। प्रणवके ध्वन्यात्मक होनेके कारण उसका कोई भी अंग मुखसे उच्चारण करनेयोग्य नहीं है, किंतु मानसिक जपसे परे केवल ध्यानकी अवस्थामें अन्तःकरणमें ही प्रणवध्वनि सुना भी दे सकती है। इसी ध्वन्यात्मक प्रकृतिके आदि शब्द ईश्वरवाचक प्रणवका वर्णात्मक प्रतिशब्द उपासना-काण्डकी सिद्धिके लिये बताया गया है। अतः 'ॐ' शब्दसे प्रणवका ही ग्रहण होता है।

ईश्वरप्रणिधान या ईश्वरभक्तिसे योगसूत्रकार महर्षि पतंजलिका अभिप्राय ईश्वरका वाचक प्रणव अर्थात् ओम् शब्दका जप और उसके अर्थ ईश्वरकी भावना करना है; क्योंकि महर्षि पतंजलिके अनुसार ईश्वर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि क्लेशों, पुण्य-अपुण्य कर्मों, जाति, आयु, दुःख, सुखादि विपाकों और वासनाओंसे अछूता है, अतः साधक भी उसकी उपासना करता हुआ उपास्यके गुणोंको धारण करता है। वह भी क्लेशों, कर्मफलों और वासनाओंसे रहित हो जाता है अर्थात् वह निष्काम कर्मयोगी या अनासक्त बन जाता है। फलतः वह साधनाके पथपर बढ़ता हुआ क्रमशः विवेकख्यातितकका लाभ प्राप्त कर लेता है, जिससे सब कुछ जाननेयोग्य निर्भ्रान्तरूपसे जाना जाता है, चाहे वह किसी भी देशमें, किसी भी देहमें या किसी भी कालमें क्यों न हो (द्रष्टव्य यो०सू० १। २९)। पतंजलिके अनुसार इस प्रकार निरन्तर अर्थभावना और प्रणवजप करनेका फल है, प्रत्येक चेतनाकी उपलब्धि और अन्तरायों अर्थात् विघ्नोंका अभाव।

पतंजलिने योगसूत्र (१। ३०)-में योगके नौ विघ्नोंका वर्णन करके ईश्वरप्रणिधानका उपसंहार करते हुए कहा है कि विघ्नोंके निवारणार्थ ईश्वरका ध्यान और उसके वाचक प्रणवका जप और उसका अभ्यास करें—'**तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः**' (यो०सू० १। ३२)

इस सम्बन्धमें योगभाष्यकारका कथन भी अवलोकनीय है।

प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयत्तश्चित्तमेकाग्रं समपद्यते। तथा चोक्तम्—'स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमावसेत्। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥' (यो०सू० १। २८ पर भाष्य, विष्णु०पु० ६। ६। २)

अर्थात् 'ओंकार' का जप और ओंकारके वाच्यार्थ ईश्वरकी भावना करनी चाहिये। इस प्रकार 'ओंकार' को जपते हुए तथा ओंकारके अर्थ ईश्वरकी भावना करते हुए योगीका चित्त एकाग्र हो जाता है। ऐसा विष्णुपुराण (६। ६। २)-में कहा भी गया है—ओंकारके जपके पश्चात् योग-साधन करना चाहिये और योग (साधन)-के पश्चात् जप करना चाहिये। जप और योगकी सिद्धिसे परमात्माका साक्षात्कार होता है।

अतः योगमार्गपर चलनेवालोंको उचित है कि 'ओम्' नामसे ही ईश्वरकी उपासना करे; क्योंकि यही उसका मुख्य अनादि नित्य और व्यापक अर्थवाला नाम है।

संत-वचनामृत

(वृन्दावनके गोलोकवासी सन्त पूज्य श्रीगणेशदासजी भक्तमालीके उपदेशपरक पत्रोंसे)

❁ भगवद्भक्तोंका कभी अशुभ नहीं होता है। यदि कुछ अशुभ दीखता है तो भी वह शुभ ही होता है। उसके पीछे कोई-न-कोई भगवत्कृपा छिपी रहती है।

❁ प्रभु सभी जीवोंके परमपिता परमात्मा हैं। कोटि-कोटि पिता-मातासे अधिक वात्सल्य जीवोंपर प्रभुका सदा बना ही है। ईश्वर जीवोंका साथ नहीं छोड़ता है। इस बातपर विश्वास भक्तोंको होता है और इसीसे भक्त निर्भय रहता है। निर्भय-निर्वैर होना भक्तका प्रथम लक्षण है। अपने समीप रहकर प्रभु भक्तकी रक्षा स्वयं करते हैं; क्योंकि वह निरन्तर प्रभुका-सा हो जाता है; क्योंकि वह निरन्तर प्रभुका चिन्तन करता है। जिसका चिन्तन होगा, उसीका-सा स्वभाव बन जायगा। यह सत्य है।

❁ परम दयालु भगवान् भक्तोंपर तो दया करते ही हैं, जो अभक्त जीव हैं, उनपर भी प्रभुका प्यार रहता है; क्योंकि वे भी प्रभुके हैं। अत: जीवमात्रके ऊपर दया-क्षमा हमको भी करनी चाहिये। कोई बहुत भजन करता हो, पर यदि उसमें जीवोंपर दया, सत्य, सदाचार न हो तो प्रभु प्रसन्न न होंगे। मुझ दासमें विद्या, बुद्धि कुछ भी नहीं है, पर प्रभु सब प्रकारके सुख दे रहे हैं। मेरे दुर्गुणोंकी ओर नहीं देखते हैं। धन्य है प्रभुके इस दिव्य स्वभावको। भूले-भटके भी जो प्रभुका नाम लेते हैं, उन्हें भी अपना मानकर प्रभु उनपर दया करते हैं।

❁ इस संसारको ईश्वरसे प्रकट मानें। ईश्वरका रूप मानें, तब मनमें शान्ति रहेगी। जो कुछ हो रहा है अथवा जो कुछ होगा, उससे जीवोंका कल्याण ही होगा। दयामय प्रभु सबका भरण-पोषण करते हैं और आगे भी करेंगे। अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप कुछ कष्ट आ जाय तो उसे भी सहर्ष सहन करना चाहिये। ईश्वरको दोष नहीं देना चाहिये। हमारे पापोंका पूरा-पूरा फल मिले तो हमको एक क्षणके लिये भी शान्ति न मिले। प्रभु दया करके कम-से-कम कष्ट देते हैं।

❁ दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि सभी सद्गुण प्रभुमें सहज भावसे नित्य निवास करते हैं। जीवमें ये गुण कभी रहते हैं और कभी नहीं भी रहते हैं। भक्तमें प्रभुके गुणोंका निवास होता है तो भक्त भी सहज सद्गुणवान् हो जाता है। इसी तरह ऐश्वर्य-माधुर्यादि भी प्रभुमें नित्य रहते हैं। बालकृष्णने ब्रजमें बड़े-बड़े दुष्ट दैत्योंका संहार किया। ऐश्वर्यपूर्ण चरित्र किये, पर अपने ऐश्वर्यको छिपाकर रखा। ऐसा परदा योगमायाका कि ये भगवान् हैं, कोई पहचान नहीं सका। पीछे भगवान्का जब वियोग हुआ तो एक-एक चरित्रका स्मरण करके ब्रजवासी लोग उनके ऐश्वर्यका—ईश्वरताका अनुमान करके उन्हें ईश्वर मानने लगे।

❁ भगवान्के स्वभावका जिसे ज्ञान हो जाता है, उसे संसार अच्छा नहीं लगता। संसारके भोगोंको भोगते हुए भी वे उनसे अलग रहते हैं, उनमें आसक्त नहीं होते हैं। ***'जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।'*** जैसे सूर्य और रात एक साथ नहीं रह सकते, उसी प्रकार संसारी भोगासक्ति और रामभक्ति एक साथ हृदयमें नहीं रह सकती। भक्तके शरीरके भोग भगवत्प्रसादयुक्त होते हैं, उनके भोगनेमें भक्तिका साथ नहीं छूटता है। उनके भोग भी भजन हैं।

❁ हम लोग भगवान्की इच्छाशक्तिके अधीन रहकर सारे कार्योंको कर रहे हैं। जहाँ-जहाँका अन्नजल भाग्यमें है, वहाँ-वहाँ जाना होगा। प्रसन्नताकी बात है कि सत्संग मिलता है। देहाती गरीब सात्त्विक लोग प्रेमसे कथा सुनते हैं। इसीमें हमको सब कुछकी प्राप्ति हो जाती है। ***'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'*** अर्थात् हृदयमें श्रीरामजी प्रेरक हैं। परंतु श्रीरामजी केवल भक्तहृदयमें शुभ प्रेरणा करते हैं। दुष्टजन चोरी-हत्या करते हैं। श्रीरामजी प्रेरक हैं—ऐसा कहनेसे राजा उन्हें दण्डसे मुक्त नहीं करेगा, पापियोंके हृदयमें पाप करनेकी प्रेरणा पाप ही कराता है। पाप करनेकी आदत बन जाती है।

['परमार्थके पत्र-पुष्प'से साभार]

प्रेममें प्रसन्नता

(पं० श्रीचन्द्रभालजी ओझा)

(१)

गंगाके किनारे एक गाँव था। गाँव बहुत बड़ा नहीं था, पर चुहुलगुल था और आवश्यकताकी सब वस्तुएँ वहाँ मिल जाती थीं। उस गाँवमें एक ब्राह्मण रहता था। वह यद्यपि नितान्त निरक्षर नहीं था, पर विद्वान् भी नहीं था। पढ़ा-लिखा न होनेसे वह पैतृक वृत्ति पुरोहिताई तो कर नहीं सकता था, परंतु बैठे-बैठे पेट पूरन होना भी कठिन था। अत: कुछ मेहनत-मजूरी करके वह अपना काम चलाता था। गर्मीके दिनोंमें वह नजदीकके स्टेशनपर पानीपांड़ेका काम करता था और जाड़ेमें बैलगाड़ी हाँकता था। घरपर उसकी माता, स्त्री और दो बच्चे थे, दिनभर कड़ा परिश्रम करके वह जो कुछ लाता उससे उसके इस छोटे कुटुम्बका भरण-पोषण किसी तरह हो जाता था। लड़कोंके स्वर्गीय निर्मल सौन्दर्य, निर्दोष मुख, बाल्य सहज चांचल्य और प्रेमभरी तोतली बोलीपर वह मुग्ध रहता था। दिनभरके कठिन परिश्रमके बाद जब वह थका-हारा घर लौटता तो बालकोंकी निर्दोष क्रीड़ाओंसे, माताके दुलारभरे पुचकारोंसे और प्रेमभरी पत्नीके स्नेहमय सत्कारोंसे उसकी सब थकान और विकलता दूर हो जाती थी।

इस तरह उसके दिन मजेमें कट रहे थे। पर उसको यह सुख भी नहीं बदा था। नदीके किनारेपर ग्राम होनेसे बाढ़ हर साल गाँवके कुछ हिस्सेको बहा ले जाती थी। अबकी साल बाढ़ ऐसी आयी कि उधर वह स्टेशनपर पानी पिलाने गया था, इधर समूचा गाँव बह गया। वह लौटकर आया तब न तो उसको अपना घर मिला, न घरके रहनेवाले! बहुत ढूँढ़ा, पर कहीं पता न चला, गाँवके और लोग जो तैर-तैरकर या पेड़ आदिपर चढ़कर बच गये थे, फिर घर बनाकर रहने लगे, पर उसका हृदय तो शून्य हो गया था, उसको अब कोई चीज अच्छी नहीं लगती थी। वह विचारता कि अभी-अभी आज प्रात:काल तो जब मैं स्टेशन गया हूँ, घर भरा हुआ था, गाँव भरा हुआ था, लड़कोंको नीमके पेड़के नीचे खेलता छोड़कर और प्रेयसीके प्रेम-वचनोंसे मुदित होकर गया हूँ और इस बारह घण्टेके बाद देखता हूँ कि कुछ भी नहीं है, अरे, वह नीमका पेड़ भी नहीं है। यही न कि रोज मैं सात बजे आता था और आज नौ बजे आया हूँ, इतनी ही देरमें यह काण्ड!

यदि केवल शोक ही होता तो वह गला फाड़-फाड़कर रोता, पछाड़े खाता, पर यहाँ तो आश्चर्य और शोक दोनोंका सम्मिश्रण था, उसका हृदय भरा हुआ था, शरीर शून्य हो गया था, काटो तो बदनमें लहू नहीं, पर वह रोता नहीं था।

बाढ़की प्रचण्डता, उसकी विकरालता और अपने गृहजनोंकी असमर्थताका ध्यान आते ही वह पागल-सा हो गया। 'आह! कालके ग्रासके समान जब नदीकी भयंकर तरंगें उन लोगोंके सन्मुख पहुँची होंगी तो उन लोगोंने किस तरह भयभीत होकर मेरा स्मरण किया होगा, हाय! माँ और स्त्री तो कुछ देर धीरज भी रख सकी होंगी, पर वे छोटे लड़के, वह दुधमुँहा बच्चा.........!' इस तरह विचार करते उसको बहुत ही दु:ख हुआ, उसने सोचा कि चलो इसी नदीमें मैं भी प्राण विसर्जन कर दूँ, पर आत्मघातके पापके डरने और इस एक आशा—एक अनिर्वचनीय आशाने कि शायद कहीं बहते-बिलाते उन लोगोंमेंसे किसीका पता लगे, उसको इस कार्यसे रोका। यदि वे सबके सब उसके सामने ही बह गये होते तो वह भी अवश्य प्राण दे देता, पर अब एक अव्यक्त, अनिवर्चनीय आशा उसे रोकती थी। अन्तत: नौकरीको ही सब अनर्थोंकी जड़ समझ उसने उसे त्याग दिया। वह दिनभर उदास रहता, न भूख लगती न प्यास, पागलोंकी भाँति इधर-उधर घूमा करता। कभी किसीने कुछ खिला दिया तो खा लिया, अन्यथा भूखा ही रह जाता। इस तरह कुछ दिन बीत गये, पर उसको कुछ भी शान्ति नहीं आयी। विस्मृति, जो दु:खको कम करनेमें बड़ी सहायता पहुँचाती है, उसकी सहायताको न आयी।

जब घरकी यादने—स्नेहमयी माताके प्रेमभरे दुलारोंकी, प्रेयसी पत्नीके प्रेमभरे चितवन और मधुर मन्द मुसकानकी, सुन्दर बालकोंके निर्दोष मुख, निर्मल हास्य और ललित

क्रीड़ाओंकी स्मृतिने उसे अत्यन्त विकल किया तो वह कहीं चले जानेका विचार करने लगा।

(२)

पासके गाँवमें ही संन्यासियोंका एक मठ था। उसीमें वह भी सम्मिलित हो गया। वहाँ प्रात:-सायं भजनभावमें तथा दिनभर आश्रमकी विविध क्रियाओंमें लगे रहनेसे उसका चित्त कुछ जरूर बदला। वहाँ उसके आनन्दकी सब सामग्री प्रस्तुत थी। अच्छा भोजन मिलता था। दस आदमियोंका साथ था। भजन, संगीत और वाद्य भी होता था। पर अब भी उसके हृदयकी तन्त्री फूटे ही स्वरमें बजती थी। उसके हृदयकी कली खिली नहीं। चेहरेपर उदासीका आधिपत्य अभी जमा ही था। उसको हृदयमें एक कमी मालूम होती थी। एक अभाव था, जिसकी पूर्ति वहाँ नहीं हो रही थी।

उसने सोचा कि मेरा समय पहलेसे बहुत अच्छी तरह कट रहा है। भोजनके लिये उतना परिश्रम नहीं करना पड़ता है। बढ़िया भोजन मिलता है, दस आदमियोंमें उसकी पूछ है, हृदयको प्रसन्न करनेवाले संगीत-वाद्य प्राय: नित्य ही हुआ करते हैं, पर तब भी हृदय प्रसन्न नहीं है। कारण क्या है? बहुत सोचने-विचारनेपर यह परिणाम निकला कि यहाँ हार्दिक प्रगाढ़ प्रेमका अभाव है। दिखावटी प्रेम तो सब करते हैं, पर हृदय छूँछा है। सब अपना-अपना काम करते हैं। प्रयोजनवश अथवा आश्रमके आचारका पालन करनेके लिये मुझसे बोल लेते हैं, आश्रमके नियमके अनुसार ही भोजन भी मिलता है, पर यह सब प्रेमके कारण नहीं, प्रेमका तो ढकोसलामात्र है।

निश्छल प्रेम और प्रेमियोंके अभावसे दु:खित होकर वह वहाँसे भी चल निकला।

वह उद्देश्यहीन होकर इधर-उधर भ्रमण करता रहा। अन्तमें फिर जाकर एक सन्त-समाजमें सम्मिलित हुआ। यहाँ केवल आलसियों और मूर्खोंका जमाव नहीं था। बल्कि कुछ पढ़े-लिखे साधु भी थे और मठके अध्यक्ष गीता तथा उपनिषद्का पुनीत उपदेश भी प्रात:-सायं सबको श्रवण कराते थे। साधु महाराज ईश्वरको सृष्टिकर्ता, सबको पालनेवाला और परमदयालु तथा भक्तवत्सल बतलाते थे। इसके सबूतमें वह कई कथानक और दृष्टान्त भी देते थे। साधु महाराज जब कृष्ण और सुदामाकी मैत्रीकी कथा कहने लगते तो श्रोता लोगोंके रोम खड़े हो जाते थे। प्रेम तथा भक्तिसे हृदय गद्गद हो जाता था। द्रौपदी तथा अर्जुनकी कृष्णमें भक्ति, सबरीका राममें प्रेम, गिद्धराज और केवटकी कथाएँ बड़ी रोचकताके साथ कहते थे।

प्रेमके भिखारी, प्रेम-मन्दिरके पुजारी उस शोकातुर ब्राह्मणपर इसका यथेष्ट प्रभाव भी पड़ा। ईश्वरपर—भक्तवत्सल ईश्वरपर, एक दयालु तथा प्रेमी ईश्वरपर उसका दृढ़ विश्वास हो गया, पर अब भी उसका चेहरा प्रसन्न नहीं हुआ। हृदय उत्साहसे उमड़ा नहीं। उसको अपने विश्वासको क्रियारूपमें परिणत करनेका मौका नहीं आया। अत: वह वहाँसे भी चल निकला।

(३)

चलते-चलते वह एक प्राचीन कुटीरके खँडहरोंमें पहुँचा। कुटिया यद्यपि जीर्ण-शीर्ण हो गयी थी, पर उसकी रमणीयता नहीं नष्ट हुई थी। वह वहीं जाकर रहने लगा। दिनभर भीख माँगकर लाता, बनाकर खाता और रातको वहीं सो रहता। उसके हृदयकी कमी उसको संतप्त किये हुए थी। उसने सोचा हृदयमें प्रेमकी जो ज्वाला है, जिसकी लपटसे शरीर जल रहा है, उसको दूसरेतक पहुँचाना चाहिये, किसी औरके साथ उसको बँटाना चाहिये। यहाँ किसीसे प्रेम करूँ; सोचा, चलूँ गाँवमें और गाँवके बच्चोंसे किसीको तोता देकर, किसीको तितली पकड़कर, किसीको भजन तथा गाना सुनाकर प्रेम करूँ। फिर सोचा मुझ गरीबके प्रेमको लड़कोंके माता-पिता कहीं अन्यथा न समझ लें, यह न सोचें कि उनके गहनोंको चुरानेके लिये उनको फुसला रहा है अथवा उनको बहकाकर साधु बनानेके लिये लालच दे रहा है।

इन सब विचारोंसे गाँवमें जाकर यकायक किसीसे प्रेम करना उसने अनुचित समझा और उस विचारको त्याग दिया। वह अब क्या करे? मठमें साधुबाबासे उसने जो उपदेश सुन रखा था, उसीकी परीक्षा करनेका उसने निश्चय किया। भक्तवत्सल ईश्वरपर उसका विश्वास तो हो ही गया था। यह भी सुना था कि वह सर्वव्यापी है, अत: उन्हीं देवाधिदेवकी अभ्यर्थना, उन्हींसे प्रेम करनेका उसने

संकल्प किया, पर ईश्वर कोई प्रत्यक्ष वस्तु तो है ही नहीं जिससे वह गले लिपटता, अपना दु:ख कहता, प्रेमका भिक्षुक बनता। उनकी सेवा करता और प्रेम करनेके बाहरी इंगितोंका दिग्दर्शन करता। कैसे प्रेम करे? यहाँ भी साधु बाबाका गीताका वह उपदेश कि 'भगवान् सर्वत्र समरूपसे हैं' काम कर गया। उसने अपनी कल्पनासे मिट्टीकी एक मूर्ति बनायी, उसको फूलोंसे अलंकृत किया और कुटीमें लीप-पोतकर एक जगह एक उत्तम वेदी बनायी, वहीं उस मूर्तिको रखा, नित्य सबेरे उठकर वह वन-बगीचोंसे सुन्दर-सुन्दर गन्धवान् पुष्प लाता, उनकी माला बनाता और मूर्तिपर चढ़ाता, दूर-दूरसे बढ़िया फल लाता और मूर्तिके भोजनके लिये वेदीपर रख देता। गंगाका निर्मल जल उसे पीनेको देता। जब वह कहीं भीख माँगने चला जाता तो गौ, बकरियाँ आतीं और सब खा जातीं। आनेपर वह समझता कि सर्वव्यापी ईश्वर प्रत्यक्ष होकर उसे खा गया है। किसी दिन यदि कोई गाय-बकरी उस तरफ नहीं आयी और फूल-पत्ती, फल-जल वैसे ही पड़ा रह गया तो वह समझता कि हो-न-हो फलोंमें या फूलोंमें कोई दोष है। तब वह अपनेको कोसने लगता और दूसरे दिन बहुत परिश्रम तथा खोजके साथ बहुत बढ़िया-बढ़िया सुस्वादु फल तथा सुगन्धित, कीटहीन, मनोहर पुष्प लाता।

वह सदा अब प्रसन्न रहने लगा। उसके समयका अधिक विभाग उसी मूर्तिकी सेवामें बीतने लगा। उसको हृदयकी कमी पूरी हुई-सी जान पड़ने लगी। वह समझ गया कि हमसे कोई प्रेम करनेवाला है और हमारी प्रेम भेंटको स्वीकार कर रहा है। प्रेम करनेके लिये उसे विषय भी अनोखा मिला, जो स्वयं अक्षय था और प्रेमका अक्षय भण्डार लिये हुए था। उसको ईश्वरकी सर्वव्यापकतामें अब पूर्ण विश्वास हो गया। वह उषा और गोधूलिके समय मीठे स्वरमें सुन्दर सरस गीत गाता और भगवान्‌को रिझानेकी कोशिश करता। उसको यह भान होता था, मानों वह साक्षात् ईश्वरके सन्मुख बैठा हुआ है और साथ ही यह भी कि वह ईश्वर उसकी ओर स्नेहभरी दृष्टिसे देख रहा है।

अहा! इस भावके आते ही उसका हृदय आनन्दसे उछलने लगता। उसके हृदयकी एक बड़ी भारी कमी पूरी हुई। उसकी ज्वाला शान्त हुई। राह चलता कोई पथिक यदि थककर विश्राम करने वहाँ आता तो उसको यह समझता कि ईश्वरका ही प्रेमी है, जो हमारी कुटीमें हमारे ईश्वरके पास आया है, उसकी खूब सेवा-सत्कार करता। उसके इस भावको देखकर लोग आश्चर्य करने लगे और उसकी इस प्रसन्नताको अलौकिक मानने लगे। किसीने यह न जाना कि प्रेममें प्रसन्नता है। उसके मुखपर जो इधर दो वर्षोंसे किसीने कभी हँसीकी रेखा भी नहीं देखी थी, अब एक विचित्र मुसकुराहट सदा झलकती थी। वह स्वयं तो सदा प्रसन्न रहता ही था, दूसरोंको भी प्रसन्न रखनेकी सदा चेष्टा करता था। प्रेम करनेके लिये अक्षय भण्डार पा जानेसे उसके हृदयकी तन्त्री अब सुस्वर और सदा बजने लगी। उसको स्वयं भी अपने इस परिवर्तनपर आश्चर्य होने लगा। उसने विचारा कि कारण क्या है? जिन प्राणियोंके लिये वह व्याकुल था, जिनके अभावसे वह दु:खित था, वह जब जीवित थे तब भी वह उतना निरन्तर प्रसन्न नहीं रहता था।

पहले जब वह काम करके लौटता और घरपर लड़के झगड़ते, मार-पीट करते मिलते थे तो उसका चित्त क्रुद्ध हो जाता था और कभी-कभी वह भी उनको मार बैठता था, जिससे गृहमें एक महान् उत्पात मच जाता था, स्त्री अलग फूल जाती, माता अलग झिड़कती, लड़के रोने लगते तब वह सोनेका स्वर्ग मिट्टी हो जाता, या कभी-कभी घर लौटनेपर उसे भोजन तैयार नहीं मिलता था तो वह स्त्रीपर क्रुद्ध हो जाता, मातासे जवाब-तलब करता, इस तरह उस दिन उस छोटे-से घरमें निरानन्दका साम्राज्य छा जाता।

उन घटनाओंका स्मरण आते ही उसे मालूम हुआ कि उस प्रेममें मोह था, झिझक थी, संकोच था, स्वार्थ था और उसके टूट जानेका डर था। उसके इस समयके प्रेममें न झिझक है, न संकोच है, न उसके टूट जानेका डर है, वह तो आशाकी तरह मीठा और आकाशकी तरह अनन्त है। उसके प्रेमका विषय अक्षय, सदा प्रसन्न रहनेवाला, हर एक त्रुटियोंको क्षमा करनेवाला, कभी शिकायत न करनेवाला और सब प्रार्थनाओंको सुन लेनेवाला है, वह अनन्त है, अक्षय है और एकरस है। ऐसे अनन्तको पाकर वह अनन्तत्वका अनुभव करने लगा।

यह सच्चा या वह सच्चा ?

(श्रीलालजी)

यदि दूध और पानीको मिलाकर रख दिया जाय तो हंस दूध पी जायगा और पानी छोड़ देगा। इसी प्रकार जिनमें सारासार विचार करनेका विवेक है, वे भी संसारकी मायामें न लिपट उसकी सार वस्तु (परमात्माको) ग्रहण कर लेते हैं। 'मैं कौन हूँ?' 'कहाँसे आया हूँ?' 'मेरा क्या कर्तव्य है?' इत्यादि विषयोंका बार-बार चिन्तन करना ही सारासारका विचार करना है और वही मनुष्य धानसे चावल निकालकर छिलके (भूसे)-को अलग कर सकता है।

गर्मीका दिन था, महलोंमें खशकी टट्टियाँ लटक रही थीं और पंखे चल रहे थे। मिथिलापुरीके राजा जनक अपने राजमहलमें सुन्दर मणि-निर्मित पलंगपर लेटे हुए थे। दास-दासियाँ सेवामें लग रही थीं। हर तरहका आराम रहनेके कारण जनकको निद्रादेवीने आ घेरा और वे तन्द्रावश हो एक भयानक स्वप्न देखने लगे।

राजा जनकको स्वप्नमें विदित हुआ कि उनके राज्यपर किसी बलवान् विदेशी शत्रुने आक्रमण किया है। राजाके अनेक प्रयत्न करनेपर भी उनकी हार हुई और शत्रु-राजाने राजा जनकको केवल एक लंगोटीमात्र देकर राज्यसे निकाल दिया। इतना ही नहीं वरन् राज्यभरमें यह ढिंढोरा पिटवा दिया कि जनकको कोई भी शरण या किसी प्रकारकी सहायता न दे, अन्यथा उसे प्राणदण्ड दिया जायगा। जनकको भटकते-भटकते मध्याह्न हो गया। गर्मीके दिन थे। न सिरपर मुकुट था और न पैरमें जूते। भूखसे पेट पीठसे सट गया था! भयके मारे किसीने भी रोटीका एक टुकड़ा देना स्वीकार नहीं किया। जो राजा इतने बड़े राज्यका स्वामी था, जिसके आगे-पीछे सैकड़ों घुड़सवार सदा नंगी तलवार लिये चलते थे, जिसकी कृपासे लाखोंका पालन होता था, आज वही पेट भरनेको एक सूखे टुकड़ेके लिये दर-दर भटक रहा है, परंतु वह टुकड़ा भी नसीब नहीं होता।

इसी प्रकार भूखे-प्यासे तीन दिन बीत गये। दैवयोगसे तीसरे दिन सन्ध्या समय वे उस स्थानपर पहुँचे, जहाँ सदाव्रतमें घी, खिचड़ी बँटती थी। परंतु भिखारी राजाके पहुँचनेमें देर हो गयी, सदाव्रत बन्द हो गया था, इसलिये वहाँ भी धक्के ही खाने पड़े। अन्तमें बहुत गिड़गिड़ाने और विनती करनेपर सदाव्रतवालेने दयाकर उस भिखारीको पोंछपाछकर थोड़ी खिचड़ी एक ठीकरेमें डाल दी। भूखके मारे भिखारी राजाका सारा शरीर काँप रहा था। ज्यों-त्योंकर उसने खिचड़ीको एक ऊँची जगहपर रख कौर उठाया। इतने ही में **'दैवो दुर्बलघातकः'** की उक्तिके अनुसार दो साँड़ लड़ते-लड़ते वहाँ आये और ऐसा धक्का दिया कि ठीकरा धड़ामसे नीचे गिर पड़ा और सारी खिचड़ी धूलमें मिल गयी! यह देख भिखारीकी आँखोंतले अँधेरा छा गया और वह भूखकी व्याकुलतासे जोरसे चीख उठा।

चीखते ही राजा जनककी आँखें खुल गयीं। सारा शरीर पसीनेसे तर था और अब भी काँप रहा था। परंतु नींद खुलते ही राजाने देखा कि अब भी वह राजा जनक ही है और अपने महलमें पलंगपर पड़ा हुआ है। हजारों दास-दासियाँ उसकी सेवा-टहलके लिये हाथ जोड़े प्रस्तुत हैं। राजाकी चीख सुनकर सब घबरा रहे हैं। कोई पंखा डुलाता है, कोई गुलाबजल छिड़कता है। यह देखकर राजाके आश्चर्यका पार नहीं रहा। उन्होंने मनमें विचारा कि कुछ ही समय पहले मैं भिखारी था, भूखसे व्याकुल होकर चिल्लाया था और अब मैं राजा हूँ, इन दोनोंमें कौन सत्य है? इस बातका निर्णय करनेके लिये राजाने एक सभा बैठायी और उसमें बड़े-बड़े वेदान्ती, विद्वान्, पंडित तथा दार्शनिक उपस्थित हुए।

राजाने अपना प्रश्न केवल 'यह सच्चा कि वह सच्चा' कह सुनाया। इस अधूरे और गुप्त प्रश्नको

सुनकर सब चुप्पी साध गये, किसीसे कुछ कहते नहीं बना। अतएव राजाने उन्हें अपने ही यहाँ रखा। उनके सब आवश्यक सामानका समुचित प्रबन्ध कर दिया और इस प्रकार वे सब राजाके बन्दी बन गये।

एक दिन राजा जनक किसी आवश्यक कार्यसे बाहर जा रहे थे। आगे-आगे चोबदार चल रहा था। एक स्थानपर एक सँकरी गली होकर जाना पड़ा। वहाँ एक तेजस्वी बालक रास्तेमें लापरवाहीसे पड़ा था। चोबदारने कहा 'तुम कौन हो? रास्तेसे हटो' बालकने उत्तर दिया 'तू' बड़ा मूढ़ जान पड़ता है और सनेत्र अन्धा है! तू देख रहा है कि मैं एक बालक हूँ जिसके आठों अंग टेढ़े-मेढ़े हैं, फिर भी तू पूछता है 'कौन है।' शरीरपर यज्ञोपवीत देखते हुए भी तू रास्ता छोड़नेको कहता है, यह बिलकुल उलटी बात है। जा अपने राजासे कह दे कि वह दूसरे रास्तेसे चला जाय।

इस विचित्र बातको सुन चोबदारको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने आकर राजासे सब वृत्तान्त कह सुनाया। राजा पैदल ही वहाँ गया और हाथ जोड़कर उनका परिचय पूछा। ऋषिपुत्रने कहा—'मेरा नाम अष्टावक्र है, मैं कहोल ऋषिका पुत्र हूँ। मैंने सुना है कि राजा जनकने बहुतसे ऋषियोंको बन्दी कर लिया है। बता क्या तू ही जनक है? तेरा क्या प्रश्न है? जल्दी बता।'

बालककी रहस्यपूर्ण बातोंसे राजा समझ गये कि यह कोई असाधारण बालक है। उन्होंने ऋषिसे क्षमा माँगी और अपनी पालकीपर बैठाकर उन्हें राजमहल ले गये। दूसरे दिन सभा की गयी, जिसमें बन्दी ऋषि-मुनि भी इकट्ठे हुए। अष्टावक्रजी सिंहासनपर बिठाये गये और उनका यथाविधि पूजनकर राजा जनकने हाथ जोड़कर प्रश्न किया—'यह सच्चा कि वह सच्चा?' अष्टावक्रने कहा—'राजन्! न यह सच्चा, न वह सच्चा। दोनोंमें कोई भेद नहीं

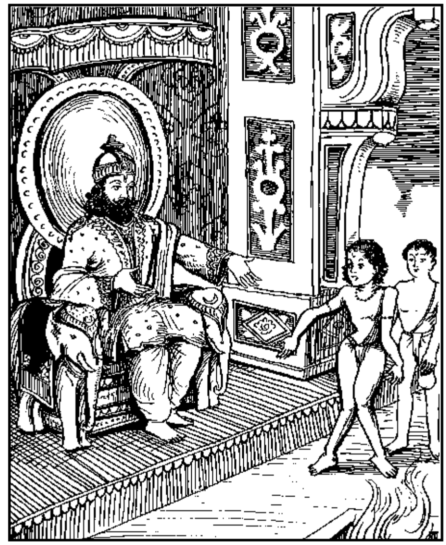

है। तूने जो स्वप्न देखा है और उसमें तुझे जो-जो कष्ट हुआ था, वह सब कुछ भी नहीं है; क्योंकि तू इस समय जनकका जनक ही है। यह संसार भी स्वप्नवत्-मृगजलवत्-पानीके बुद्बुदेके सदृश-वंध्यापुत्रके समान और सीपीमें चाँदीका भ्रम होनेके समान असार है, इसलिये यह भी सच्चा नहीं है। स्वप्नमें तेरा यह राज्य नहीं था, जो तू अब प्रत्यक्ष देख रहा है और जाग्रत्‌में स्वप्नका वह दृश्य नहीं है, जो तूने उस समय प्रत्यक्ष देखा था। सोये हुएका स्वप्न एक छोटा स्वप्न है और जाग्रत्‌का संसार एक बड़ा स्वप्न है। बस, इतना ही मात्र भेद है।'

इस उत्तरसे राजा जनककी शंकाका समाधान हो गया और उपस्थित ऋषियोंने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। तत्पश्चात् अष्टावक्रने उन ऋषियोंको यथाशक्ति द्रव्यादि दिलाकर उनके घर भिजवा दिया और अपने पिता कहोल ऋषिका बड़े आदर-मानसे पूजन किया। राजा जनकने उन्हें अपना गुरु माना और उनसे आत्मज्ञान प्राप्त किया। अष्टावक्र मुनिनिर्मित 'अष्टावक्र गीता' मनन करनेयोग्य है।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज। क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज॥

[अष्टावक्रजी राजा जनकसे कहते हैं—] हे तात! यदि तुम मुक्ति चाहते हो, तो विषयोंको विषके समान छोड़ दो और क्षमा, सरलता, दया, सन्तोष एवं सत्यका अमृतके समान सेवन करो। [**अष्टावक्र गीता**]

तीर्थ-दर्शन—

सिद्ध शक्तिपीठ देवीपाटन

(श्रीचरणजीतजी 'चन्द्रेश')

स्कन्द, कालिका आदि पुराणों तथा तन्त्रचूड़ामणि आदि तान्त्रिक ग्रन्थोंमें शक्तिपीठोंकी परम्परा निर्दिष्ट है। इसके अनुसार ५१ वर्ण-समाम्नायके आश्रय आदिशक्ति भगवती जगदम्बाकी उपासनाके ५१ जाग्रत् केन्द्र शक्तिपीठके नामसे सम्पूर्ण भारतमें अवस्थित हैं। सम्पूर्ण देशकी धार्मिक एकताका श्रेष्ठ परिज्ञान इन शक्तिपीठोंके माध्यमसे होता है। एक ओर कैलास (हिमालय)-पर भगवान् शंकरका वास है तो दूसरी ओर सुदूर कन्याकुमारीसे लेकर प्रायः सर्वत्र व्याप्त शक्तिपीठोंके रूपमें भगवती जगदम्बाका निवास है। इन ५१ सिद्ध शक्तिपीठोंमें देवीपाटनकी भी गणना है।

देवीपाटनकी भौगोलिक स्थिति

यह स्थान उत्तरप्रदेशके गोंडा जनपदमें तुलसीपुर रेलवे स्टेशनसे पश्चिमोत्तर दिशामें लगभग दो फर्लांगपर सीरीया (सूर्या) नदीके तटपर स्थित है। नेपालकी सीमा भी इसके निकट ही है। इसके उत्तरमें नेपाल, दक्षिणमें फैजाबाद (साकेत), पूर्वमें बस्ती और पश्चिममें बाराबंकी एवं गोंडा है। मन्दिरके प्रांगणमें स्थित ध्वंसावशेष अब भी इसकी प्राचीनताका संकेत करते हैं। अवधक्षेत्रके अत्यन्त पुनीत तीर्थोंमें देवीपाटनकी भी गणना है।

नामकरण

इस शक्तिपीठका नाम देवीपाटन है। पाटन पत्तनका अपभ्रंश है। संस्कृतभाषामें 'पत्तन' शब्द नगरका वाचक है। 'देवीपत्तन' अर्थात् देवीका नगर। कुछ लोग 'पाटन' शब्दका अर्थ देवीके पट (वस्त्र)-से भी लगाते हैं, जो उनके वाम स्कन्धके साथ गिरा था। पाटनकी प्रसिद्धि कबसे हुई—इस सम्बन्धमें एक श्लोक उपलब्ध है—

पटेन सहितः स्कन्धः पपात यत्र भूतले।
तत्र पाटेश्वरीनाम्ना ख्यातिमाप्ता महेश्वरी॥

देवीभागवतादि पुराणोंके अनुसार भी शिवजीकी प्रथम पत्नी सतीका वाम स्कन्ध (अंग) पट (वस्त्र)-के सहित यहाँ गिरा, तबसे यह 'देवीपाटन' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

वाल्मीकि-रामायणमें वर्णित है कि भगवान् श्रीराम लंका-विजयके पश्चात् अयोध्यामें राज्य-सिंहासनासीन हुए। गुप्तचरके मुखसे रजकद्वारा कथित सीताविषयक अपवादको सुनकर उन्हें वनवास दे दिया था। लवकुश-युद्धके पश्चात् जब वाल्मीकिजी समाजके बीच श्रीसीताजीको अपने साथ लेकर भगवान् श्रीरामके समक्ष उपस्थित हुए, तब सीताजीने पृथ्वीमातासे प्रार्थना की कि 'यदि मैं मनसा-वाचा-कर्मणा सदा भगवान् श्रीरामजीकी ही पूजा करती रही हूँ तो आप फट जायँ और मैं आपकी गोदमें प्रविष्ट हो जाऊँ।' ऐसा कहते ही पृथ्वी फट गयी और उस विवरमेंसे एक सिंहासन निकला, जिसपर स्वयं पृथ्वीदेवी बैठी थीं। वे सीताजीको अपने साथ लेकर पाताललोकको चली गयीं। इसीसे इस स्थानका नाम 'पातालेश्वरी' भी प्रचलित है।

अपने देशमें उन्हीं स्थानोंको पवित्र तीर्थस्थल माना जाता है, जो महात्माओंकी चरणधूलिसे परिशुद्ध हुए हैं, जहाँ महान् ऋषियोंने तपस्या करके कल्याणकारी तत्त्वोंका आविष्कार किया है और जो स्थल विभिन्न अवतारी पुरुषों तथा देवी-देवताओंके पुण्यचरित्रसे सम्बन्धित हैं। देवीपाटन महामाया भगवती दुर्गादेवीका स्थान होनेके कारण युग-युगान्तरोंसे पवित्र, श्रेष्ठ तथा पूज्य माना गया है। पुराणोंमें इसका विभिन्न रूपोंमें वर्णन प्राप्त होता है। देवीकी महिमा निम्न ग्रन्थोंमें मिलती है—

(१) देवीपुराण, (२) देवीभागवत, (३) कालिकापुराण, (४) स्कन्दपुराण।

पीठके सम्बन्धमें विभिन्न ग्रन्थोंमें जो वर्णन मिलते

हैं, उनका सारांश इस प्रकार है—

एक बार ब्रह्माजी ने यज्ञ प्रारम्भ किया। उसमें सभी देवताओंके साथ-साथ विष्णु और शिव भी निमन्त्रित थे। यज्ञ-कार्य सुचारु रूपसे चल रहा था। इसी समय दक्षका आगमन हुआ, जो सतीजीके पिता एवं शिवजीके श्वसुर थे। दक्षको आया देख सभी देवता उठ खड़े हुए, परंतु शिवजी न तो उठे और न उन्हें नमस्कार ही किया। इस कारण दक्षको शिवजीके द्वारा अपना तिरस्कार प्रतिभासित हुआ। जब दक्षको प्रजापति-पद प्राप्त हुआ, तब उन्होंने बदला लेनेकी दृष्टिसे यह घोषणा की कि 'किसी भी यज्ञमें शंकरको भाग न दिया जाय।' देवताओंको यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सर्वथा यज्ञ न करना ही पसन्द किया, परंतु दक्ष प्रजापतिने कनखल नामक स्थानपर (हरिद्वारमें) यज्ञ प्रारम्भ किया। भगवान् शंकरका अपमान हो—यही उस यज्ञका उद्देश्य था। उसमें सभी ऋषि, मुनि, देवी-देवताओंको आमन्त्रित किया गया था, किंतु शिवजीको नहीं बुलाया गया। उसी द्वेषके कारण उन्होंने अपनी पुत्री सतीको भी भुला दिया। परंतु सतीजीने जब पितृ-गृहमें यज्ञ होनेकी बात सुनी तो वे तुरंत वहाँ जानेके लिये तैयार हो गयीं। वे भगवान् शिवके निषेध करनेपर भी न मानीं। भगवान् शिवने भवितव्यताको देखकर कुछ गणोंके साथ सतीको यज्ञमें भेज दिया। सतीजी यज्ञमें पधारीं। वहाँ उन्होंने भगवान् शिवके अतिरिक्त सभी देवताओंका यज्ञीय भाग देखा। अपने स्वामी (शिव)-की यह उपेक्षा देखकर वे क्रोधाविष्ट हो गयीं और योगक्रियाद्वारा उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। यह उनकी विचित्र लीला ही थी।

इधर भगवान् शिवने उपर्युक्त घटनाके फलस्वरूप वीरभद्र नामक भयानक गणको उत्पन्न किया। वीरभद्रने यज्ञस्थलपर जाकर यज्ञको विध्वंस कर दिया तथा शिवद्रोहियोंको नष्ट कर डाला। भगवान् शिवने स्वयं उपस्थित होकर दक्ष प्रजापतिका सिर काट लिया। तब सभी देवगणोंने भगवान् शंकरकी स्तुति की और कहा कि 'दक्षको जीवित कर दीजिये।' क्रोध शान्त होनेपर महादेवने देवताओंकी प्रार्थनाके वशीभूत होकर प्रजापति दक्षको बकरेका सिर लगाकर जीवित कर दिया। इसके बाद लीलाधारी शिवजी जगदम्बा सतीजीका शव लेकर चौदहों भुवनोंमें घूमने लगे। यह देखकर भगवान् विष्णुको चिन्ता हुई कि यदि शिव स्थिर न होंगे तो सृष्टि नष्ट हो जायगी। उन्होंने (विष्णुने) योगमायाकी सहायतासे सतीजीके शरीरके खण्ड-खण्डकर भूतलपर गिराना प्रारम्भ कर दिया। भिन्न-भिन्न स्थानोंपर माँ सतीके ५१ अंग गिरे। जहाँ-जहाँ वे अंग गिरे, वे ५१ स्थल शक्तिपीठके रूपमें पूजित हुए। इनमें कुछ प्रमुख स्थानोंके नाम निम्नलिखित हैं—सिर गिरनेवाला स्थल—हिंगलाज (बलूचिस्तान), मस्तक—दुर्गादेवी बांसवाड़ा (राजस्थान), जिह्वा—ज्वालामुखी (जिला कांगड़ा), बायाँ कपोल—हरिसिद्धी (उज्जैन), कण्ठ—वैष्णवीदेवी (जम्मू-कश्मीर), दाहिनी हथेली—विन्ध्यवासिनी विन्ध्याचल (मिर्जापुर), छाती—त्रिपुरसुन्दरी (बैजनाथ-धाम), दक्षिण स्तन—शारदादेवी (मैहर)। यह मैहर स्टेशन सतनासे २२ मीलपर है, पीठ—कन्याकुमारी (मद्रास), योनि—कामाख्यादेवी (आसाम), बायीं जंघा—तुलजा भवानी (महाराष्ट्र) तथा बायाँ कंधा वस्त्रसहित देवीपाटनमें गिरा था। ये सभी स्थान आगे चलकर सिद्ध शक्तिपीठके रूपमें प्रसिद्ध हुए।

जनश्रुतिके अनुसार योगिराज गोरक्षनाथ साक्षात् शिवस्वरूप कहे जाते हैं। एक मतसे इन्हें भगवान् शिवने अपनी जटासे उत्पन्न किया और उनसे कहा कि जहाँ-जहाँ सतीके अंगोंका पात हुआ है, वहाँ-वहाँ जाकर आप सिद्धपीठोंकी स्थापना तथा पूजापद्धतिका उपदेश कीजिये। तदनुसार उन्होंने यहाँ उपासना की थी। यह श्लोक यहाँके शिलालेखके रूपमें प्राप्त है—

महादेवसमाज्ञप्तः सतीस्कन्धविभूषिताम्।
गोरक्षनाथो योगीन्द्रस्तेन पाटेश्वरीमठीम्॥

उक्त श्लोकसे यह सिद्ध होता है कि श्रीपाटनदेवी-स्थान जितना प्राचीन है, उतना ही प्रतिष्ठित भी है। यहाँ दूर-दूरसे यात्रीगण आते हैं और अपनी श्रद्धाके अनुसार नारियलका गोला, जटादार नारियल, धूप, दीप, चुनरी, नैवेद्य, जायफल, आँख, छत्र, ध्वजा, सिन्दूर आदि जगदम्बाके समक्ष अर्पितकर अभीष्टकी प्राप्ति करते हैं। यहाँकी परम्पराके अनुसार मन्दिरमें नित्य ६ घंटे पूजा होती है। प्रत्येक सोमवार और शुक्रवारको जनताकी भीड़ अन्य दिनोंकी अपेक्षा अधिक होती है।

मन्दिरके दर्शनीय स्थल

१-मन्दिरके अन्त:कक्षमें कोई प्रतिमा नहीं है। वहाँ चाँदीसे मढ़ा हुआ एक गोल चबूतरा है। कहा जाता है, उसीके नीचे पातालतक सुरंग है। चबूतरेपर कपड़ा बिछा रहता है, जिसपर भक्तजन प्रसाद आदि चढ़ाते हैं।

२-चबूतरेके ऊपर एक ताम्रच्छत्र है, जिसपर सम्पूर्ण दुर्गासप्तशती अंकित है। उसके नीचे चाँदीके अन्य कई छत्र हैं।

३-मन्दिरमें घृतकी दो अखण्ड ज्योतियाँ (दीप) अनवरत जलती रहती हैं। भक्तजन इनका काजल नेत्र-रोग-निवारणार्थ ले जाते हैं।

४-मन्दिरकी परिक्रमामें मातृगणोंके यन्त्र विद्यमान हैं। इन यन्त्रोंकी आराधनासे भूत-प्रेतजनित बाधाएँ दूर होती हैं।

५-मन्दिरके उत्तरमें सूर्यकुण्ड जीर्णावस्थामें विद्यमान है। कहते हैं कि उसमें स्नान करनेसे कुष्ठरोगका निवारण होता है। प्रत्येक रविवारको सूर्यकुण्डमें स्नानकर जो व्यक्ति विधिवत् षोडशोपचारसे देवीका पूजन करता है, उसकी सारी व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह पुत्र-पौत्रादिसे युक्त हो जाता है।

६-महिषासुरमर्दिनी भगवती कालिकाका मन्दिर है।

७-बटुकनाथ भैरवकी आराधनासे शत्रु-बाधा नष्ट होती है।

८-अखण्ड धूनी है, जो अनवरत प्रज्वलित कही जाती है। यह कभी बुझती नहीं, इसके लिये सरकारसे प्रतिवर्ष २५० गाड़ी लकड़ी जंगलसे प्राप्त होती है।

९-चन्द्रशेखर महादेव-मन्दिर, हनुमान-मन्दिर, बाबा रतननाथका दरीचा एवं मीर समरकी समाधि आदि दर्शनीय स्थल हैं।

बाबा रतननाथजीकी कथा इस प्रकार प्रसिद्ध है—कहते हैं, वे एक बड़े सिद्ध पुरुष एवं महान् योगी थे और प्रतिदिन अपनी योगशक्तिसे दांड (नेपाल)-की पहाड़ियोंसे आकर देवीपाटनमें देवीकी आराधना किया करते थे। एक बार देवीने आराधनासे प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहा। श्रीरतननाथजीने कहा कि 'माता! मेरी भी पूजा आपके साथ इस मन्दिरमें हो!' तब भगवतीने 'तथास्तु' कहकर यह वर दिया कि 'जब तुम मन्दिरमें आओगे, तब तुम्हारी भी पूजा होगी।' परम्परानुसार अभी भी नेपाल प्रदेशके बाबा रतननाथ मठ-दांड चौधारा स्थानसे प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ल पंचमीको पात्र-देवता देवीपाटन जाते हैं। आनेवालोंका सारा प्रबन्ध मठकी ओरसे होता है और सब योगीश्वरोंको विदाई (कुछ धनराशि) भी दी जाती है। एकादशीको पुन: पात्र-देव चौधारा वापस चले जाते हैं। पात्र-देवताके रहते माताजीके घंटे-नगाड़े आदिका बजना बन्द रहता है एवं देवीका पूजन भी रतनबाबाके पुजारी ही करते हैं।

मीर समरकी समाधिके सम्बन्धमें जन-साधारणकी धारणा तथा लोक-आख्यायिका भी है कि जब सैयद सालारजंग मसूद गाज़ीने बहराइचके बालाकि ऋषिके आश्रम एवं सूर्यमन्दिरको नष्ट किया, उसी समय उसीकी एक सैनिक टुकड़ीने देवीपाटनको भी ध्वस्त करनेका प्रयास किया, किंतु स्थानीय जनता एवं भक्तजनोंने उस आक्रमणका वीरताके साथ सामना किया, जिससे वह सैनिक-टुकड़ी पराजित हो गयी।

एक दूसरी जनश्रुति इस मन्दिरके सम्बन्धमें इस प्रकार भी है—सैयद सालारजंग मसूद गाज़ीके बाद मुगल बादशाह औरंगजेबने अपने सेनापति मीर समरको इस मन्दिरको ध्वस्त करनेके लिये भेजा। मीर समरने एक विशाल सेनाके साथ मन्दिरपर आक्रमण किया। मन्दिरको ध्वस्त करनेके प्रयासमें उसने मन्दिरका मुख्य पूजा-स्थल जो अरघेके रूपमें है और जहाँसे माँ सतीका अंग पातालमें गया था, उसमें बाँस डलवाकर उसकी गहराई नापनेका प्रयास किया। देवीके चमत्कारके रूपमें अचानक उसमेंसे हजारोंकी संख्यामें मधुमक्खियाँ निकलीं और सैनिकोंको काटने लगीं, इससे बहुत-से सैनिक भाग खड़े हुए। सेनापति मीर समर मारा गया। आज भी उसकी समाधि मन्दिरके प्रांगणमें स्थित है।

देवीपाटनमें प्रतिवर्ष चैत्र शुक्ल नवरात्रमें बड़ा विशाल मेला लगता है, जो उत्तरांचलमें सबसे बड़ा माना जाता है। देशके कोने-कोनेसे लाखों दर्शनार्थी आते हैं। बड़ी-बड़ी प्रसिद्ध दुकानें भी आती हैं। यह पावन शक्तिपीठ भारत-नेपालकी धार्मिक एकताका प्रतीक और दोनों देशोंकी जनता के लिये समान रूपसे पूज्य है।

संत-चरित—

आबाल ब्रह्मचारी बालगुरु षडानन्दजी महाराज

(पं० श्रीशिवप्रसादजी शर्मा)

भारतीय संस्कृतिके संरक्षणमें सन्तोंकी भूमिका प्रशंसनीय रही है। उसी परम्पराकी रक्षामें सभ्य समाजके सहयोगसे आजीवन संघर्ष करके भी उस परम्पराकी रक्षा करनेवाले महापुरुष इसी भारतभूमिमें उदित होते रहते हैं। महामना मदनमोहन मालवीयजीका सारगर्भित उद्‌गार है—**'भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा॥'** यह उक्ति इसलिये सारगर्भित है कि संस्कृत, संस्कृति और संस्कार—ये तीनों पूर्वीय दर्शनकी आधारशिला हैं। संस्कृतद्वारा संस्कृतिका ज्ञान और संस्कृतिसे संस्कार सम्पन्न होते हैं।

इसी तथ्यकी घोषणा नेपालके भोजपुर दिङ्लामें जन्म लेनेवाले बालागुरु षडानन्दकी कीर्ति-किरणें भी कर रही हैं कि जिसने विश्वभाषाकी ज्येष्ठ और समृद्ध भाषा संस्कृतका ज्ञान किया, उसने संस्कृति तथा संस्कारको समझ लिया।

बालागुरुके जीवनका पूर्वार्ध

बालागुरु भोजपुर जिलेके दिङ्लाके गढ़िगाँवमें पं० लक्ष्मीनारायणकी पत्नी रुक्मिणीके गर्भसे विक्रम सम्वत् १८९२ मार्गशीर्ष शुक्ल पंचमीके दिन प्रकट हुए। इनके जन्मसे पूर्व ही पिता लक्ष्मीनारायणका निधन हो चुका था। वे अपने पाँच भाई, तीन बहनोंमें सबसे छोटे थे। इनके संरक्षणमें माता रुक्मिणीको बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। इनका पोषण पड़ोसमें रहने-वाली एक दर्जिन नित्य दिनमें दो बार आकर नवजात शिशुको दूध पिलाकर कर जाती थी। इस प्रकार विभिन्न कठिनाइयों और आर्थिक समस्याओंके बीच वे बड़े हुए।

शिक्षा—बालक षडानन्द छोटी अवस्थासे ही विलक्षण प्रतिभासम्पन्न रहे। वे अपनी जननीसे धार्मिक पौराणिक बातें पूछते रहते थे। कथा सुननेके बहाने घूमते रहते, घरमें आकर सुनी हुई कथाएँ सबको सुनाते थे। इसीलिये लोग इनको बालागुरु कहने लगे। यही नाम प्रसिद्धिमें आया।

वे छोटी अवस्थामें ही रुद्रीपाठ करने लगे थे। इस प्रकार बालागुरु षडानन्दका अक्षरारम्भसहित अध्ययन अपने घरमें तथा ननिहालमें हुआ था।

संस्कार—बालक षडानन्दकी अवस्था जब आठ वर्षकी हुई, तब उनकी माँ और भाइयोंने उनका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न कराया। व्रतबन्ध-संस्कारके अनन्तर वे अपनी बड़ी दीदीके घर गये और वहींसे वे अध्ययनहेतु जनकपुरके गुरुकुल पहुँचे। उस समय जनकपुर नेपाल देशके सबसे बड़े शैक्षिक और धार्मिक केन्द्रके रूपमें प्रसिद्ध था।

गुरुकुलमें शिक्षा देनेवाले प्रधान बाबा रामदासजी महाराज थे, वे दर्शनशास्त्र, व्याकरण, उपनिषद् आदिके अध्यापनमें निष्णात थे। षडानन्दजी हरेक विषयमें प्रवेश करना चाहते थे। विशेषकर पातञ्जलयोगदर्शनकी तरफ वे विशेष आकर्षित रहे। इस प्रकार वे वेदान्तदर्शन, व्याकरण और ज्योतिषमें पारंगत हुए। साथ ही वे योगाभ्यासमें भी नित्य निरत रहे।

बालाने गुरुकुलमें अति संयमित जीवन व्यतीत किया। अनुशासनमें मर्यादित रहते हुए वे गुरुकी आज्ञा लेकर एक ही समय भोजन करते, अन्यथा भूखे रहते। छात्रावस्थामें उन्होंने गुरुभक्तिको अपने जीवनका अभिन्न अंग बनाया। इसीसे वे गुरुके शयनके बाद ही सोते, गुरुके जागनेके पहले ही उठते।

इस प्रकार गुरुकुलमें प्रारम्भिक शिक्षा अर्जनकर उच्च शिक्षाहेतु विक्रम सं० १९०८ में सोलह सालकी आयुमें बालागुरु हिन्दुओंके पवित्र तीर्थ तथा सर्वश्रेष्ठ विद्याकेन्द्र एवं मुक्तिक्षेत्र काशीमें आये। काशीमें गंगातटपर स्थित ज्योतिर्मठमें विभिन्न विषयके विद्वान् अध्यापन करते थे। षडानन्द भी अनेकों विषयोंका अध्ययन विभिन्न विद्वानोंसे करने लगे। इस प्रकार काशीमें ही षड्‌दर्शन जैसे पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा, वैशेषिक दर्शन, न्यायदर्शन, योगदर्शनके साथ नास्तिक दर्शन, बौद्ध दर्शन आदिमें भी उन्होंने आवश्यक जानकारी हासिल की। साथ-साथ उन्होंने गणित, भूगोल, इतिहास, अंग्रेजी, फ्रेंच और फारसी भाषाका भी अभ्यास किया।

उनकी प्रतिभा अलौकिक थी, इसलिये एक बार पढ़नेपर वह विषय उनके अधीन हो जाता। भगवद्गीताके अठारह अध्याय वे बिना पुस्तकके पाठ करते। अध्ययनकालमें ही काशीकी परम्परानुसार शास्त्रार्थमें भी भाग लेते थे। इस प्रकार काशीमें ८ वर्षका समय व्यतीतकर उन्होंने योगसाधनाका विचार बनाया। काशीसे लौटकर बालागुरु षडानन्दने वाग्मती नदीके तटपर जंगलमें एकान्त स्थानपर तपस्याके लिये आसन जमाया। छोटी-सी कुटिया अपने ही हाथोंसे निर्माणकर उसीमें साधना करनेका निश्चय किया। यह स्थान सर्लाही जिलामें हाथीडण्डाके नामसे प्रसिद्ध था। केवल जल पीकर वे साधनामें संलग्न हुए। थोड़े समयमें यहाँ लोगोंका आना-जाना होने लगा, इसलिये साधनामें विघ्नके भयसे आप वहाँसे उठकर काठमाण्डू के पंचली नामक वनमें वाग्मतीके किनारे बैठकर केवल जल पीकर तपस्या करने लगे। इस स्थानपर ब्रह्मचारी बालागुरु बारह वर्षतक कठोर तपस्यामें लगे रहे। उन्होंने चौबीस पुरश्चरण त्रिपदा गायत्री जपका संकल्प लिया। चौबीस लाखका एक पुरश्चरण होता है। चौबीस पुरश्चरणमें पाँच करोड़ छिहत्तर लाख गायत्री मन्त्रका जप करना था। इस साधनाके सम्बन्धमें उन्हें काशीमें अपने गुरु स्वामी सच्चिदानन्द महाराजसे आज्ञा मिली थी कि गायत्री पुरश्चरण पूर्ण करके समाज और संस्कृतिकी सेवामें संलग्न होना। सम्पूर्ण जपमें एक समय मात्र फल-जलका आहार करते हुए बालागुरुने वि०सं० १९१६ से १९२८ तककी बारह वर्षकी साधनामें चौबीस पुरश्चरण जप सम्पन्नकर पुरश्चरणका उद्यापन किया।

उद्यापन-समारोह सम्पन्न होनेपर बालागुरुको समीपकी भैरव धर्मशालामें लाया गया। अब वहाँ रहकर वे ब्रह्मज्ञानका उपदेश करने लगे।

बालागुरुके जीवनका उत्तरार्ध

तीर्थयात्रा—बालागुरु कुछ दिन धर्मशालामें रहनेके पश्चात् भारतवर्षकी तीर्थयात्राकी इच्छासे प्रस्थानकर विक्रम सम्वत् १९२८के चैत्रमासमें काशी ज्योतिर्मठमें पहुँचे, वहाँ रहकर कुछ दिन विद्वानोंके साथ विविध विषयमें सत्संग और शास्त्रचर्चा की। इसी समय ज्योतिर्मठके शंकराचार्य जगद्गुरुने उनको १०८ गुरु महाराजकी उपाधिसे विभूषित किया।

पश्चात् बालागुरु महाराजने बदरीनाथ और केदारनाथका दर्शन किया। वहाँसे लौटकर जगन्नाथ पहुँचे, वहाँ दर्शनकर गोवर्धनपीठके शंकराचार्यजीसे मिले। वहाँ भी विद्वानोंसे शास्त्रार्थ हुआ।

इसके बाद वे रामेश्वर सेतुबन्धकी यात्रामें गये। वहाँ दर्शनके पश्चात् वे पाण्डिचेरी पहुँचे। वहाँके फ्रेन्च पादरियोंसे क्रिश्चियन धर्मकी जानकारी ली। वहाँसे गोवा, गोवासे बम्बई, बम्बईसे गुजरातमें द्वारकापीठके दर्शन करने पहुँचे। वहाँपर शारदापीठमें कुछ दिन निवासकर वहाँसे पंजाब लौटे, वहाँपर सिखोंके गुरुद्वारे पहुँचकर गुरुग्रन्थ साहबका अध्ययन किया। साथ ही मुसलमानोंके धर्मग्रन्थ कुरआनशरीफकी समालोचनाकर दोनों धर्मोंका तुलनात्मक ज्ञानकर दिल्ली आये। पश्चात् उत्तर प्रदेशके तीर्थ वृन्दावन, मथुरा, प्रयाग होते हुए बिहारके गयाजी पहुँचे। वहाँसे लौटकर पुनः नेपाल, पंचलीमें आये। इस प्रकार भारतके तीर्थ-भ्रमणमें बालागुरुको दो वर्ष लगे।

पंचलीमें भीड़ होने लगी, तब वहाँसे उठकर वे योगाभ्यासके विचारसे नेपालके पश्चिम पोखरा चले गये और फेवा तालके तटपर जंगलमें छोटी कुटिया तैयार कर ली। इस बार उनके पास एक कम्बल, कमण्डलु और झोला तीन सामान थे। पुनः वे अन्न का त्यागकर फल, जलके सहारे अष्टांगयोग साधनामें तत्पर हुए।

वहाँ योगाभ्यासके साथ बालागुरुद्वारा सेती नदीके पश्चिमतटपर नारायण आश्रम नामक एक ब्रह्मचर्य आश्रमकी स्थापना हुई। उसके संचालनके लिये स्थानीय निवासियोंद्वारा उदारतापूर्वक जगह-जगह खेत आश्रमके नाम रजिस्ट्री किये गये।

बालागुरुको अष्टांग योगसाधनामें मात्र छः मास लगा। वे पहलेसे ही सिद्ध योगी थे। इस प्रकार छः मासके योगाभ्यासके बाद वे पुनः काठमाण्डू वापस आये। कुछ दिन बाद गुरुजीकी आज्ञा यादकर उनके मनमें अपनी जननी-जन्मभूमिका विकास करनेकी विचारधारा बनी। साथ ही एक दिन रातमें उन्हें अपनी माँका दर्शन हुआ। यह बात उन्होंने अपने सहयोगी बालकोंको बतायी और

वि०सं० १९३९ में उन्होंने अपने दो छात्रोंके साथ 'स्वर्गादपि गरीयसी', जननी जन्मभूमिकी तरफ प्रस्थान किया।

बालागुरु १९३९ में जब अपनी जन्मभूमि दिङ्ला पहुँचे, उस समय वे ३९ सालके हो गये थे। ८ वर्षकी अवस्थामें यज्ञोपवीत-संस्कारके बाद वे निकले थे। ३१ वर्षके बाद जन्मभूमि पहुँचे बालागुरुका स्थानीय जनसमूहद्वारा भव्य स्वागत हुआ। यहाँसे उनके घर गठिगाँवतक हजारों लोग उनके साथ लगे थे।

बालागुरुने अपने घरमें पहुँचते ही देखा उनकी जननी अस्वस्थावस्थामें थीं। दूसरे ही दिन माताजी दिवंगत हुईं। माता रुक्मिणीका अन्तिम संस्कार अरुण नदीके सती घाटपर सम्पन्न हुआ। माताकी मृत्युके बाद हिन्दुओंके नियमानुसार बालागुरुने अपनी माताका क्रियाकर्म करके एक वर्षतक व्रत-नियमका पालन किया।

धार्मिक गतिविधि—माताका वार्षिक कर्म सम्पन्न करके बालागुरुका विचार अपने जन्मस्थान दिङ्लाको शैक्षिक और धार्मिक दृष्टिसे प्रमुख स्थानके रूपमें विकसित करनेका हुआ। सर्वप्रथम वे प्राचीन ऋषि-मुनियोंद्वारा संचालित गुरुकुलकी स्थापनाकर विद्याका प्रचार-प्रसार करनेकी ओर सोचने लगे।

गुरुकुल-संचालनके साथ-साथ वे मन्दिर-निर्माण और मूर्तिकी प्रतिष्ठाकर धार्मिक स्थलके रूपमें इसकी प्रसिद्धि चाहते थे। भगवान् शंकरके लिये शिवालय तथा सीता-राम, लक्ष्मण, हनुमानजीके लिये रामजानकी-मन्दिरके निर्माणकी उनकी योजना थी, जिसे उन्होंने १९३२ वि०सं० में मन्दिर बनवाकर तथा उसी सालके चैत्र शुक्ल रामनवमीके दिन सीतारामकी प्रतिमाकी स्थापना एवं प्राणप्रतिष्ठाकर साकार किया।

उन्होंने एक शिवालय बनवाकर उसमें नर्मदेश्वर महादेवकी स्थापना और प्राणप्रतिष्ठा करवायी। पहाड़के जिस शिखरपर वे सब देवालय और देवता प्रतिष्ठित हुए, उस शिखरका नाम उन्होंने कैलास शिखर रखा।

शिक्षण-संस्थाकी स्थापना—दिङ्ला शिक्षा, संस्कृति और संस्कारमात्रसे पिछड़ा नहीं था, अपितु सड़क, पुल, रहन-सहन, सामाजिक वातावरण आदिसे भी पिछड़ा हुआ था। ऐसी परिस्थितिमें उसी साल सबके सहयोगसे मन्दिरके साथ ही गुरुकुलकी भी स्थापना हुई।

प्रारम्भमें सर्वविद्या विषयोंमें पारंगत बालागुरु स्वयं वृक्षकी छायामें आसनासीन होकर निष्पक्ष भावसे सभी जाति-वर्गके बालकोंको बिना भेदभावके पढ़ाने लगे। धीरे-धीरे गुरुकुल विकसित हुआ, पूर्व भूटानसे पश्चिम प्युठान (पश्चिमी नेपाल)-तकके छात्र एकत्रित होने लगे। सामान्यरूपसे स्थानीय नागरिकोंके सहयोगसे छात्रावास और विद्यालय-भवन निर्माण किये गये। स्थानीय जमींदार एवं खेतीवालोंके सहयोगसे बहुत-सी जमीन विद्यालयको दानमें प्राप्त हुई।

खेतीकी आमदनीद्वारा छात्रोंको वृत्ति भी मिलने लगी। गुरुओंकी भी व्यवस्था हुई। सन्त षडानन्द इस विद्यापीठके पीठाधीशके रूपमें रहकर शिक्षा, संस्कृति और सदाचारकी ज्योति फैलाने लगे। विद्यार्थी स्वेच्छानुसार वेद, वेदान्त, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, कानून, गणित, धर्मशास्त्र, पुराण पढ़ने लगे। इस प्रकार दिङ्ला एक उत्तम विद्याकेन्द्रके रूपमें जाना जाने लगा।

सिद्धयोगी षडानन्द सहृदयी सन्त थे। उन्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्तिको सार्थक किया। उन्होंने विवाहकर घर-गृहस्थीके संचालनका विचार नहीं किया। इसीलिये वे सभीके आस्था और प्रेरक पुरुषके रूपमें रहे।

कोई उन्हें बालागुरु कहते, कोई गुरु महाराज। उनकी नि:स्वार्थ सेवा देखकर नेपालकी तत्कालीन राणा सरकारने भी उनका नीतिगत सेवा-सहयोग किया था। ऐसे सन्तकी अवहेलना नहीं करना चाहिये, अपमान होगा तो पाप लगेगा, ऐसा वे कहते थे। इसीलिये निर्बाधरूपसे वहाँपर संस्कृत, संस्कृति और संस्कारका विकास हुआ।

सन्त षडानन्द संस्कृतिप्रेमी थे। सनातन वैदिक धर्म-दर्शन उनका जीवनपथ था। इसीलिये उन्होंने किसी धार्मिक सम्प्रदायको नहीं अपनाया। उन्होंने अपने गुरुकुलके परिसरमें बड़े-बड़े राम, कृष्ण, सीता और महादेवजीके मन्दिरोंका निर्माण कराया। नियमित पूजाकी व्यवस्था की थी। चातुर्मास और पर्वमें पुराणका पाठ प्रवचन होता था। सभी श्रद्धालु भक्त मन्दिरमें पूजा-दर्शन और मण्डपमें पुराण सुन सकते थे।

आज भी मन्दिर-मण्डप, पाठशालामें रुद्री,

दुर्गासप्तशतीसहित आधुनिक विषयोंका भी पठन-पाठन होता है।

समाज-सुधारके कार्य—बालागुरुका जीवनकाल सुधारकी दृष्टिसे भी महत्त्वपूर्ण था। विशेषकर उनके द्वारा किये गये शैक्षिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक, बौद्धिक, आर्थिक सुधारोंको भुलाया नहीं जा सकता। बालागुरु समाजसुधारके पक्षपाती थे। समाजकी विकृतियों और विसंगतियोंका उन्होंने खुलकर विरोध किया था।

बालागुरु षडानन्द अलौकिक शक्ति और सामर्थ्यसे सम्पन्न सन्त थे। उन्होंने पूर्वीय गगनतलमें शिक्षा, संस्कृति और संस्कारकी ज्योतिका विस्तार किया। उनकी वाणी सिद्ध थी। वे न पढ़ पानेवाले विद्यार्थीको पुराणका वाचनकर जीविका चलानेका आशीर्वाद देकर भेज देते थे। महर्षि षडानन्द ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगमें निपुण थे।

बालागुरुने अपने जीवनका महत्त्वपूर्ण समय दिङ्लाके चतुर्मुखी विकासमें व्यतीत किया था। वे ८१ वर्षकी वृद्धावस्थामें भी कठोर परिश्रम कर रहे थे। जीवनके शेष दिन काठमाण्डूमें व्यतीत करनेके विचारसे वे वि०सं० १९७२ में पूर्वस्थान पंचली घाटके धर्मशालामें रहने लगे। यहींपर भजन करते हुए वि०सं०१९७३के ज्येष्ठ मासमें उनके पार्थिव शरीरका निधन हो गया।

बालागुरु षडानन्दद्वारा समाज, संस्कृति, संस्कृत, संस्कार, शिक्षाक्षेत्रमें किये गये सत्कार्य-कलाप प्रशंसनीय हैं। उन्होंने जन्मभूमि नेपालसे लेकर जनकपुर, मुक्तिक्षेत्र काशीके अतिरिक्त समग्र भारतके तीर्थाटनके बहाने अनेक भाषाओं, विभिन्न कलाओं एवं धर्म-सम्प्रदायोंमें निहित तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त किया और स्वदेश लौटकर वैदिक सत्य सनातन प्राचीन धर्म-मर्यादामें अटल रहते हुए समूचे नेपाल राष्ट्रमें संस्कृत-शिक्षा, संस्कार, सभ्यताका प्रचार-प्रसारकर अपनी समुज्ज्वल कीर्ति-पताकाका विस्तार करते हुए **'कीर्तिर्यस्य स जीवति'** सूक्तिको सार्थक बनाया तथा देश-विदेशतक मानव जीवनके कर्तव्यका उपदेश देकर आदर्श मानवताका सन्देश दिया।

शंख और घंटा-ध्वनिसे रोगोंका नाश

सन् १९२८ ई० में बर्लिन विश्वविद्यालयने शंख-ध्वनिपर अनुसन्धान करके यह सिद्ध कर दिया कि शंख-ध्वनिकी शब्द-तरंगें बैक्टीरियाको नष्ट करनेके लिये उत्तम एवं सस्ती औषधि हैं। प्रति सेकेण्ड सत्ताईस घन फुट वायु-शक्तिके जोरसे बजाया हुआ शंख १२०० फुट दूरीके बैक्टीरियाको नष्ट कर डालता है और २६०० फुटकी दूरीके जीवाणु उस ध्वनिसे मूर्च्छित हो जाते हैं। बैक्टीरियाके अलावा इससे हैजा, मलेरिया और गर्दनतोड़-ज्वरके कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं; साथ ही ध्वनिविस्तारक स्थानके पासके स्थान निःसन्देह कीटाणुरहित हो जाते हैं। मिर्गी, मूर्च्छा, कण्ठमाला और कोढ़के रोगियोंके अन्दर शंख-ध्वनिकी प्रतिक्रिया रोगनाशक होती है। शिकागोके डॉ० डी० ब्राइनने तेरह सौ बहरे रोगियोंको शंख-ध्वनिके माध्यमसे अबतक ठीक किया है। अफ्रीकाके निवासी घंटाको ही बजाकर जहरीले सर्पके काटे हुए मनुष्यको ठीक करनेकी प्रक्रियाको पता नहीं कबसे आजतक करते चले आ रहे हैं। ऐसा पता चला है कि मास्को सैनेटोरियममें घंटा-ध्वनिसे तपेदिक रोगको ठीक करनेका प्रयोग सफलतापूर्वक चल रहा है।

सन् १९१६ ई०में बर्मिंघममें एक मुकदमा चल रहा था। तपेदिकके एक रोगीने गिरजाघरमें बजनेवाले घंटेके सम्बन्धमें अदालतमें यह दावा किया था कि इस ध्वनिके कारण मेरा स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा है तथा इससे मुझे काफी शारीरिक क्षति होती है। इस बातपर अदालतने तीन प्रमुख वैज्ञानिकोंको घंटा-ध्वनिकी जाँचके लिये नियुक्त किया। यह परीक्षण लगातार सात महीनोंतक चला और अन्तमें वैज्ञानिकोंने यह घोषित किया कि घंटाकी ध्वनिसे तपेदिक रोग ठीक होता है न कि इससे नुकसान। साथ ही तपेदिकके अलावा इससे कई शारीरिक कष्ट भी दूर होते हैं तथा मानसिक उत्कर्ष होता है। [श्रीयमुनाप्रसादजी]

प्रभुमें विश्वास कैसे बढ़े ?

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

साधककी निर्बलता और प्रभुकी उदारता

मनुष्यमें सबसे बड़ी निर्बलता तो यह है कि वह जिसको करना बुरा समझता है, उसे किये बिना नहीं रह सकता। जिसे करना उचित समझता है, उसे नहीं कर पाता। भगवान्‌ने जो इसे सुचारुरूपसे कर्म करनेके लिये क्रियाशक्ति और विवेकशक्ति दी है, उसका यह सदुपयोग न करके दुरुपयोग करता है। तथापि भगवान् इतने उदार और दयालु हैं कि जब उन शक्तियोंका ह्रास हो जाता है, तब सब कुछ जानते हुए भी उसके अपराधकी ओर ध्यान न देकर बार-बार उसे वही शक्ति प्रदान करते रहते हैं। इस रहस्यको समझकर यदि साधक भगवान्‌से उनके द्वारा प्रदत्त शक्तिका सदुपयोग करनेका बल प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करे तो वह भी देनेके लिये वे महान् उदार प्रभु सदैव प्रस्तुत हैं। भगवान्‌के इस भावको समझनेवाला साधक उनमें प्रेम-विश्वास किये बिना रह ही कैसे सकता है ?

जो साधक भगवान्‌को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है, वह कैसा है, महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्ण है या नीच वर्ण-जातिका—इस बातका भगवान् जरा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है—वे उससे प्रेम करनेके लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है, वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं—इसका वाणीद्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्‌की इस महिमाको समझनेवाला साधक उनपर अपनेको न्योछावर कर देनेके सिवा और करेगा ही क्या ?

इस प्रकार अपनी निर्बलता और भगवान्‌की महिमाके विषयमें साधकको विचार करते रहना चाहिये। विवेकके प्रकाशमें विचार करनेपर जानकारीका बढ़ना स्वाभाविक है।

भगवान्‌की कृपा

जिस साधकको अपने बल-पुरुषार्थपर भरोसा है, जो यह समझता है कि अपने कर्मोंके फलस्वरूपमें प्राप्त शक्तिके द्वारा साधन करके मैं अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लूँगा—उसे भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता। वैसे ही जो विचारमार्गमें विश्वास रखनेवाला साधक विचारके द्वारा ही अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ रहा है—उसे भी भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होता। भगवत्कृपाका अनुभव उस साधकको होता है, जिसको उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास है। जो हर समय हरेक परिस्थितिमें उनकी कृपाकी ही बाट जोहता रहता है तथा उस साधकको भी भगवत्कृपाका अनुभव होता है, जो यह मानता है कि मुझे जो कुछ विवेक प्राप्त है—वह भगवान्‌का ही प्रसाद है। मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर तथा अन्य समस्त साधनसामग्री उन्हींकी है और उन्होंने ही कृपापूर्वक इनका सदुपयोग करनेके लिये इनको मुझे दिया है। उन्हींकी कृपा, प्रेरणासे साधनमें मेरी प्रवृत्ति तथा प्रगति होती है और होगी। इस प्रकार जो अपनेको भगवान्‌की कृपाका पात्र मानता है और उस मान्यतामें भी भगवान्‌की कृपाको ही कारण समझता है, उसे भगवत्कृपाका अनुभव अवश्य होता है।

मनकी एकाग्रता

मनकी एकाग्रताके उपाय साधकोंकी प्रकृति, योग्यता और विश्वासके भेदसे अनेक हैं। उनमें प्रधान साधन वैराग्य अर्थात् रागका अभाव है। अभ्याससे भी मनकी एकाग्रता होती है; परंतु केवल अभ्यासद्वारा की हुई एकाग्रता टिकती नहीं, पुनः चंचलतामें बदल जाती है।

जब मनमें सभी इच्छाओंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब मनकी स्वाभाविक एकाग्रता होती है और वही टिकती है।

जो मनकी चंचलतासे दुखी होकर एकमात्र एकाग्रताका इच्छुक होता है, जबतक मन एकाग्र नहीं होता तबतक जिसको चैन नहीं पड़ता, उसका मन भी अवश्य एकाग्र हो जाता है।

जो साधक किसी स्थितिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा भावमें अपने मनको लगाकर कर्तृत्व-भावपूर्वक मनको एकाग्र करनेके लिये प्रयत्न करता है, उसका मन कालान्तरमें एकाग्र नहीं रहता; क्योंकि कर्ता और भोक्ताभावके रहते हुए जो स्थिति प्राप्त की जाती है, उसका अन्त अवश्य होता है—यह प्राकृतिक नियम है।

जो चित्तकी एकाग्रताको ही सबसे अधिक आवश्यक काम समझ लेता है, जिसे चित्तकी एकाग्रता न होनेकी पूरी वेदना है, चित्त एकाग्र हुए बिना जिसको चैन नहीं पड़ता, उसका चित्त एकाग्र हो जाता है।

गायके चरनेमें रुकावट डालनेके कारण नरक-दर्शन

एक समयकी बात है, राजा जनकने योगके द्वारा अपने शरीरका परित्याग कर दिया। उस समय उनके पास एक विमान आया, जो क्षुद्र-घण्टिकाओंसे शोभा पा रहा था। राजा दिव्य-देहसे विमानपर आरूढ़ होकर चल दिये और उनके त्यागे हुए शरीरको सेवकगण उठा ले गये। राजा जनक धर्मराजकी संयमनीपुरीके निकटवर्ती मार्गसे जा रहे थे। उस समय करोड़ों नरकोंमें जो पापाचारी जीव यातना भोग रहे थे, वे जनकके शरीरकी वायुका स्पर्श पाकर सुखी हो गये, परंतु जब वे उस स्थानसे आगे निकले तो पापपीड़ित प्राणी उन्हें जाते देख भयभीत होकर जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे। वे नहीं चाहते थे कि राजा जनकसे वियोग हो। उन्होंने करुणा-जनक वाणीमें कहा—'पुण्यात्मन्! यहाँसे न जाओ। तुम्हारे शरीरको छूकर चलनेवाली वायुका स्पर्श पाकर हम यातनापीड़ित प्राणियोंको बड़ा सुख मिल रहा है।'

'राजा बड़े धर्मात्मा थे, उन दुखी जीवोंकी पुकार सुनकर उनके हृदयमें करुणा भर आयी। वे सोचने लगे—'यदि मेरे रहनेसे इन प्राणियोंको सुख होता है, तो अब मैं इसी नगरमें निवास करूँगा; यही मेरे लिये मनोहर स्वर्ग है।' ऐसा विचार करके राजा जनक दुखी प्राणियोंको सुख पहुँचानेके लिये वहीं—नरकके दरवाजेपर ही ठहर गये। उस समय उनका हृदय दयासे परिपूर्ण हो रहा था। इतनेहीमें नरकके उस दु:खदायी द्वारपर नाना प्रकारके पातक करनेवाले प्राणियोंको कठोर यातना देने वाले धर्मराज स्वयं उपस्थित हुए। उन्होंने देखा, महान् पुण्यात्मा तथा दयालु राजा जनक विमानपर आरूढ़ हो नरकके दरवाजेपर खड़े हैं। उन्हें देखकर प्रेतराज हँस पड़े और बोले—'राजन्! तुम तो समस्त धर्मात्माओंके शिरोमणि हो, भला तुम यहाँ कैसे आये? यह स्थान तो प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले पापाचारी एवं दुष्टात्मा जीवोंके लिये है। यहाँ तुम्हारे समान पुण्यात्मा पुरुष नहीं आते। यहाँ उन्हीं मनुष्योंका आगमन होता है, जो अन्य प्राणियोंसे द्रोह करते, दूसरोंपर कलंक लगाते तथा औरोंका धन लूट-खसोटकर जीविका चलाते हैं। जो अपनी सेवामें लगी हुई धर्मपरायणा पत्नीको बिना किसी अपराधके त्याग देता है, उसको भी यहाँ आना पड़ता है। जो धनके लालचमें फँसकर मित्रके साथ धोखा करता है, वह मनुष्य यहाँ आकर मेरे हाथसे भयंकर यातना प्राप्त करता है। जो मूढ़चित्त मानव दम्भ, द्वेष अथवा उपहासवश मन, वाणी एवं क्रियाद्वारा कभी भगवान् श्रीरामका स्मरण नहीं करता, उसे बाँधकर मैं नरकोंमें डाल देता हूँ और अच्छी तरह पकाता हूँ। जिन्होंने नरकके कष्टका निवारण करनेवाले रमानाथ भगवान् श्रीविष्णुका स्मरण किया है, वे मेरे स्थानको छोड़कर बहुत शीघ्र वैकुण्ठधामको प्राप्त होते हैं। मनुष्योंके शरीरमें तभीतक पाप ठहर पाता है, जबतक कि वे अपनी जिह्वासे श्रीराम-नामका उच्चारण नहीं करते। महामते! जो बड़े-बड़े पापोंका आचरण करनेवाले, हैं, उन्हीं लोगोंको मेरे दूत यहाँ ले आते हैं! तुम्हारे-जैसे पुण्यात्माओंकी ओर तो वे देख ही नहीं सकते; अत: महाराज! यहाँसे जाओ और अनेक प्रकारके दिव्य भोगोंका उपभोग करो। इस श्रेष्ठ विमानपर आरूढ़ होकर अपने उपार्जित किये हुए पुण्यको भोगो।'

जनकने कहा—'नाथ! मुझे इन दुखी जीवोंपर दया आती है, अत: इन्हें छोड़कर मैं नहीं जा सकता। मेरे शरीरकी वायुका स्पर्श पाकर इन लोगोंको सुख मिल रहा है। धर्मराज! यदि आप नरकमें पड़े हुए इन सभी प्राणियोंको छोड़ दें, तो मैं पुण्यात्माओंके निवासस्थान स्वर्गको सुखपूर्वक जा सकता हूँ।'

धर्मराज बोले—राजन्! यह जो तुम्हारे सामने खड़ा है, इस पापीने अपने मित्रकी पत्नीके साथ, जो इसके ऊपर पूर्ण विश्वास करती थी, बलात्कार किया है; इसलिये मैंने इसे लोहशंकु नामक नरकमें डालकर दस हजार वर्षोंतक पकाया है। इसके पश्चात् इसे सूअरकी योनिमें डालकर अन्तमें मनुष्यके शरीरमें उत्पन्न करना है। मनुष्य-योनिमें यह नपुंसक होगा। इस दूसरे पापीने अनेकों बार बलपूर्वक परायी स्त्रियोंका आलिंगन किया है; इसलिये यह सौ वर्षोंतक रौरव नरकमें पकाया जायगा और यह जो पापी खड़ा है, यह बड़ी नीच बुद्धिका है। इसने दूसरोंका धन चुराकर स्वयं भोगा है;

इसलिये इसके दोनों हाथ काटकर मैं इसे पूयशोणित नामक नरकमें पकाऊँगा। इसने सायंकालके समय भूखसे पीड़ित होकर घरपर आये हुए अतिथिका वचनद्वारा भी स्वागत-सत्कार नहीं किया है; अतः इसे अन्धकारसे भरे हुए तामिस्र नामक नरकमें गिराना उचित है। वहाँ भ्रमरोंसे पीड़ित होकर यह सौ वर्षोंतक यातना भोगे। यह पापी उच्च स्वरसे दूसरोंकी निन्दा करते हुए कभी लज्जित नहीं हुआ है तथा उसने भी कान लगा-लगाकर अनेकों बार दूसरोंकी निन्दा सुनी है; अतः ये दोनों पापी अन्धकूपमें पड़कर दुःख-पर-दुःख उठा रहे हैं। यह जो अत्यन्त उद्विग्न दिखायी दे रहा है, मित्रोंसे द्रोह करनेवाला है, इसीलिये इसे रौरव नरकमें पकाया जाता है। नरश्रेष्ठ! इन सभी पापियोंको इनके पापोंका भोग कराकर छुटकारा दूँगा। अतः तुम उत्तम लोकोंमें जाओ; क्योंकि तुमने पुण्य-राशिका उपार्जन किया है।

जनकने पूछा—धर्मराज! इन दुखी जीवोंका नरकसे उद्धार कैसे होगा? आप वह उपाय बतायें, जिसका अनुष्ठान करनेसे इन्हें सुख मिले।

धर्मराज बोले—महाराज! इन्होंने कभी भगवान् विष्णुकी आराधना नहीं की, उनकी कथा नहीं सुनी, फिर इन पापियोंको नरकसे छुटकारा कैसे मिल सकता है! इन्होंने बड़े-बड़े पाप किये हैं तो भी यदि तुम इन्हें छुड़ाना चाहते हो तो अपना पुण्य अर्पण करो। कौन-सा पुण्य? सो मैं बतलाता हूँ। एक दिन प्रातःकाल उठकर तुमने शुद्ध चित्तसे श्रीरघुनाथजीका ध्यान किया था, जिनका नाम महान् पापोंका भी नाश करनेवाला है। नरश्रेष्ठ! उस दिन तुमने जो अकस्मात् 'राम-राम' का उच्चारण किया था, उसीका पुण्य इन पापियोंको दे डालो; जिससे इनका नरकसे उद्धार हो जाय।'

बुद्धिमान् धर्मराजके उपर्युक्त वचन सुनकर राजा जनकने अपने जीवनभरका कमाया हुआ पुण्य उन पापियोंको दे डाला। उनके संकल्प करते ही नरकमें पड़े हुए जीव तत्क्षण वहाँसे मुक्त हो गये और दिव्य शरीर धारण करके जनकसे बोले—'राजन्! आपकी कृपासे हमलोग एक ही क्षणमें इस दुःखदायी नरकसे छुटकारा पा गये, अब हम परमधामको जा रहे हैं।' राजा जनक सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करनेवाले थे; उन्होंने नरकसे निकले हुए प्राणियोंका सूर्यके समान तेजस्वी रूप देखकर मन-ही-मन बड़े सन्तोषका अनुभव किया। वे सभी प्राणी दयासागर महाराज जनककी प्रशंसा करते हुए दिव्य लोकको चले गये। नरकस्थ प्राणियोंके चले जानेपर राजा जनकने सम्पूर्ण धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ यमराजसे प्रश्न किया।

राजाने कहा—'धर्मराज! आपने कहा था कि पाप करनेवाले मनुष्य ही आपके स्थानपर आते हैं, धार्मिक चर्चामें लगे रहनेवाले जीवोंका यहाँ आगमन नहीं होता। ऐसी दशामें मेरा यहाँ किस पापके कारण आना हुआ है? आप धर्मात्मा हैं; इसलिये मेरे पापका समस्त कारण आरम्भसे ही बतायें।

धर्मराज बोले—राजन्! तुम्हारा पुण्य बहुत बड़ा है। इस पृथ्वीपर तुम्हारे समान पुण्य किसीका नहीं है। तुम श्रीरघुनाथजीके युगलचरणारविन्दोंका मकरन्द पान करनेवाले भ्रमर हो। तुम्हारी कीर्तिमयी गंगा मलसे भरे हुए समस्त पापियोंको पवित्र कर देती है। वह अत्यन्त आनन्द प्रदान करनेवाली और दुष्टोंको तारनेवाली है तथापि तुम्हारा एक छोटा-सा पाप भी है, जिसके कारण तुम पुण्यसे भरे होनेपर भी संयमनीपुरीके पास आये हो। एक समयकी बात है—एक गाय कहीं चर रही थी, तुमने पहुँचकर उसके चरनेमें रुकावट डाल दी। उसी पापका यह फल है कि तुम्हें नरकका दरवाजा देखना पड़ा है। इस समय तुम उससे छुटकारा पा गये तथा तुम्हारा पुण्य पहलेसे बहुत बढ़ गया; अतः अपने पुण्यद्वारा उपार्जित नाना प्रकारके उत्तम भोगोंका उपभोग करो। श्रीरघुनाथजी करुणाके सागर हैं। उन्होंने इन दुखी जीवोंका दुःख दूर करनेके लिये ही संयमनीके इस महामार्गमें तुम-जैसे वैष्णवको भेज दिया है। सुव्रत! यदि तुम इस मार्गसे नहीं आते तो इन बेचारोंका नरकसे उद्धार कैसे होता! महामते! दूसरोंके दुःखसे दुखी होनेवाले तुम्हारे-जैसे दयाधाम महात्मा आर्त प्राणियोंका दुःख दूर करते ही हैं।

तब यमराजको प्रणाम करके राजा जनक परमधामको चले गये। [पद्मपुराण]

साधनोपयोगी पत्र

ईश्वर सत्य है और सर्वत्र है

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नोंके संक्षिप्त उत्तर निम्नलिखित हैं—

१—ईश्वर सत्य है और सर्वत्र है। तुकाराम, नामदेव, सूरदास, तुलसीदास, गौरांग-महाप्रभु, श्रीरामकृष्ण परमहंस आदिपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। जो भी भगवान्‌का सच्चा भक्त हो, वह आज भी भगवान्‌के दर्शन प्राप्त कर सकता है।

२—रूस तथा चीनमें क्या है और क्या नहीं है, यह तो विवादकी बात है। लेकिन आप स्वयं कहते हैं कि वहाँ सम्पन्नताके साथ ईमानदारी-सत्य आदि हैं और भारतमें दरिद्रताके साथ चोरी-बेईमानी आदि। इसका अर्थ यही है कि दोनों स्थानोंके लोग अपने-अपने कर्मोंका फल भोग रहे हैं। भगवान्‌को केवल मुखसे मानना या न मानना कोई अर्थ नहीं रखता। मुखसे भगवान्‌को मानकर भी जो पाप करते हैं, उनका भगवान्‌को न माननेवालोंसे अधिक दुखी रहना तो ठीक ही है। उनका अपराध तो और भी बड़ा हो जाता है।

३—भारतमें जो वर्तमान समाज है, व्यापक रूपमें वह अध्यात्ममें विश्वास कहाँ करता है। विदेशोंकी स्वतन्त्रताने उन्हें सिखाया कि सत्य-ईमानदारी आदिसे व्यावहारिक क्षेत्रमें लाभ होता है। जहाँ यह लाभ नहीं दीखता, वे लोग भी सद्‌गुणोंकी अपेक्षा नहीं करते। भारतकी पराधीनताने दरिद्रता दी और पाश्चात्य प्रभावने अर्थलोलुपता दी। दोनोंके मेलसे यहाँ छल, कपट, दम्भ आदिकी बहुलता हो गयी। अध्यात्मवाद यदि होता तो ये दुर्गुण आते ही नहीं। दुर्गुण तो आये ही, ये अर्थको प्रधान माननेसे हैं। सद्‌गुण यदि कहीं व्यावहारिक कारणोंसे हैं भी तो उनकी नींव दुर्बल है। वे तो केवल भगवान्‌की मान्यताके आधारपर ही सुदृढ़ हो सकते हैं। किंतु वह आस्तिकता सच्ची होनी चाहिये। केवल मौखिक या दिखाऊ आस्तिकता तो दम्भ है।

४—श्री××××का चुनावमें विजयी होना केवल यह सिद्ध करता है कि लोग उनकी विचारधाराके हैं। वह विचारधारा ठीक है या गलत, यह इससे सिद्ध नहीं होता। रही भगवान्‌की बात, सो भगवान्‌के लिये तो सभी पुत्र समान हैं। मनुष्यकी कर्ममें स्वतन्त्रताका अर्थ क्या रहे, यदि भगवान् उसके कर्मोंको उलट-पुलट कर दिया करें। विजय, यश एवं सम्पन्नता यदि दम्भ या मक्कारीके फल हैं तो सभी दम्भी, मक्कार सफल होने चाहिये। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि विजय, सम्मान, धन, सुख आदि मनुष्यको पूर्वजन्मके कर्मोंके फलसे (प्रारब्धसे) मिलते हैं। अपने वर्तमान पाप या पुण्यका फल तो उसे आगे भोगना पड़ेगा।

५—भगवान्‌ने द्रौपदीकी लाज बचायी, जब उसने कातरभावसे भगवान्‌को पुकारा। हमारे पास एक भी ऐसा पत्र नहीं आया कि देश-विभाजनके समयके उपद्रवोंमें किसीने भगवान्‌को श्रद्धासे पुकारा हो और उसकी रक्षा न हुई हो। लेकिन यह हमारा कितना मानसिक पतन है कि ऐसी दुरवस्थामें भी हमें भगवान्‌की याद नहीं आती।

६—एक सन्तकी भी अपने शरीरमें आसक्ति नहीं होती तब भगवान्‌की भला मूर्तियों या मन्दिरमें आसक्ति कैसे हो सकती है, जो वे उनकी रक्षा करने दौड़ पड़ें। मूर्तिका महत्त्व तो आराधकके लिये है और यदि आराधक उसकी रक्षाके लिये प्राण देता है तो उसे भगवान्‌के लोककी प्राप्ति होती है। यदि वह भगवान्‌से ही मूर्तिकी रक्षाके लिये कातर पुकार करे, तो वह भी सम्भव है, किंतु सच्चे भक्त तो कर्तव्यपर बलिदान होना ही पसन्द करते हैं।

७—आप यह कैसे मानते हैं कि हिंदू-जातिका ह्रास पाप-पुण्यके विचारसे हुआ है? इतिहासमें जो जातियाँ लुप्त हो गयीं, क्या वे पाप-पुण्यके विचारके

कारण लुप्त हुईं? सच तो यह है कि हिंदू-जातिने पुण्यको, धर्मको छोड़ दिया है, यही उसके ह्रासका कारण है। धर्म शक्ति देता है, दुर्बलता या कायरता नहीं दिया करता।

८—हमारे लोकनेता एवं हमारा नवशिक्षित समाज कैसा है, सो तो स्पष्ट है। सनातनधर्मकी रक्षा मनुष्यके लिये होगी, ऐसा तो सोचना ही अहंकार है। लेकिन मनुष्यका कर्तव्य है धर्मकी सेवा एवं रक्षाके लिये प्रयत्न करना और जो भी विचारशील हैं, उन्हें अपने कर्तव्यका यथाशक्ति पालन करना चाहिये।

९—लक्ष्मी और कीर्ति तो प्रारब्धजन्य पुण्यके फलस्वरूप बढ़ती है। इस जीवनमें जो दम्भ, छल, कपट आदि करते हैं, वे कोई भी हों और लोग उन्हें कुछ भी कहें या समझें, अपने कर्मोंके फलस्वरूप अनन्त दु:ख तो आगे चलकर उन्हें भोगने ही पड़ेंगे।

१०—धन और कीर्ति प्रारब्धसे मिलते हैं।

११-१२—धन, कीर्ति, स्वास्थ्यादि भगवान्‌की प्रार्थनासे भी मिल सकते हैं। प्रार्थनाके लिये न कोई प्रकार है, न स्थान और न समय। पूर्ण विश्वाससे, अनन्य भावसे जो सहज कातर-प्रार्थना होती है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाती। प्रार्थना हृदयसे उठती है, उसे पुस्तकके द्वारा सीखा नहीं जाता। बँधे शब्द प्रार्थना नहीं हैं—भगवान्‌के प्रति अपने हृदयके सच्चे भावोंका पूर्ण विश्वाससे निवेदन करना ही प्रार्थना है।

१३—संध्या अवश्य करनी चाहिये। संध्या न करनेसे पाप लगता ही है।

१४—गायत्री-मन्त्रके आदि-अन्तमें प्रणव लगानेमें गृहस्थके लिये भी कोई दोष नहीं है।

१५—मनकी एकाग्रता तो अभ्याससे होती है। धैर्य एवं नियमपूर्वक अभ्यास करते रहनेसे धीरे-धीरे मन एकाग्र होने लगेगा।

१६, १७, १८—अनेक बातें ऐसी होती हैं, जो हमें सह लेनी चाहिये। जब हम उन्हें नहीं सह लेते तो वे सुधरती तो हैं नहीं, हमें उलटा दु:ख होता है। माता, पत्नी, पुत्र आदि हमें प्रारब्धसे ही प्राप्त हुए हैं। हमें सबके साथ रहकर काम चलाना है। जैसे हमारे स्वभावमें अनेक दुर्बलताएँ हैं, वैसे ही दूसरेके स्वभावमें भी हैं। आप बम्बईमें जहाँ रहते हैं, वहाँ दूसरोंसे कैसे निभा लेते हैं। घरमें भी यदि आप वही व्यवहार करें तो बड़ी शान्ति मिलेगी। माताजी किसी बातपर बिगड़ें तो क्षमा माँग ली, पत्नीसे भूल हुई तो हँसकर कह दिया—'तुमसे तो यह भूल होती ही है, अच्छा कोई बात नहीं।' इससे दो बातें होंगी, पत्नी और माताजी आपसे स्नेह करने लगेंगी। माताजी स्वयं कहेंगी—'बिजली जल गयी तो क्या हुआ?' यदि आप उनके कहनेसे पहले कहें—'माताजी, क्षमा करें। कल मेरे दोषसे बिलजी देरतक जली।' पत्नी स्वयं अपने दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न करेगी। मान लीजिये, ये बातें न भी हों तो आपके चित्तको क्षोभ नहीं होगा। भूलें तो अब भी होती ही हैं। हम किसीको समझाकर या डाँटकर, झगड़कर ऐसा नहीं बना सकते कि वह हमारी इच्छाके अनुकूल ही चले। फिर यह बात भी नहीं है कि हमारा सोचना सर्वथा भूलसे रहित ही होता है। हम स्वयं नम्र बनकर, झुककर, क्षमा करके, विचार करके सबको निभा ले सकते हैं, चित्तकी शान्तिका यही उपाय है।

माताजीकी वृद्धावस्थाका ध्यान रखना चाहिये। उन्हें कष्ट नहीं होना चाहिये। बच्चोंकी पढ़ाई जहाँ ठीक हो, उन्हें वहीं रखना चाहिये, किंतु पत्नीको तो माताजीके पास ही रखना ठीक है।

आत्महत्या बड़ा भारी पाप है। इससे किसी कष्टकी निवृत्ति नहीं होती। प्रारब्ध तो आगे भी भोगना ही पड़ेगा। और आत्महत्याके पापके फलसे वह और घोरतर हो जायगा। अत: यह बात तो मनसे ही निकाल देनी चाहिये। भगवान् परम दयालु हैं। उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास करके उन दयामयसे प्रार्थना करना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। शेष प्रभुकृपा।

कृपानुभूति

रामनाम-संकीर्तनसे परलोकसे वापसी

घटना सन् २००१ ई० की है। मैं बंगालके सिलीगुड़ी नगरमें रहता हूँ। कॉलेजकी पढ़ाई पूरी करनेके पश्चात् अध्यात्मकी तरफ मेरा रुझान बढ़ता गया। अन्तत: गुजरातके 'सूरत' शहरमें 'जन्माष्टमी-उत्सव' में दीक्षा लेनेका मैंने मन बनाया। सूरत यहाँसे दूर होनेकी वजहसे परिवारके लोग अकेले भेजनेको राजी नहीं थे। तभी मुझे ज्ञात हुआ कि यहाँके कुछ व्यापारी बम्बई होकर सूरत कपड़ा खरीदने जानेवाले हैं। उनमें एक श्रीशिवशंकरजीसे मेरा पहलेसे ही परिचय था। अत: मैं भी उन लोगोंके साथ हो लिया।

भादोंका महीना था, बम्बईमें रुक-रुककर सारे दिन बारिश होती रही और उसीमें हम चारों लोग मार्केटिंग करते रहे, जिनमें शिवशंकरजी के चाचा मोहनजी भी थे। उनके जीजाजी बम्बईमें ही रहते थे। उस दिन रात्रिको उनके यहाँ भोजनकी व्यवस्था थी। भोजन करनेके पश्चात् मैं और शिवशंकरजी एक अलग कमरेमें विश्राम करने लगे। शिवशंकरजीको दमेकी शिकायत थी और सारे दिन बारिशमें भींगनेके कारण रात्रिमें उनको साँस लेनेमें तकलीफ होने लगी। बेचैनीमें वे मुझसे एक भजन गानेका आग्रह करने लगे।

उनकी स्थिति विकट जान मैंने रामनाम-संकीर्तन चालू कर दिया। शिवशंकरजी संकीर्तन करते हुए गिर पड़े। मैंने फौरन सबको बुलाया और उन्हें अस्पताल ले गया। उन्हें दिलका दौरा पड़ा था, अत: आई.सी.यू. में तुरंत भरती कराया गया। करीब ४० मिनटके बाद डॉक्टरने आकर हमें बताया कि 'ये मेरे जीवनकी पहली ऐसी घटना है, जिसमें मरा हुआ व्यक्ति जिन्दा हो गया। जब आप लोग उन्हें लेकर आये थे तो उनकी हृदय-गति रुक चुकी थी। जितने प्रयास हो सकते थे, सब किये; पर सब विफल हो गये। जब हमलोग मरीजकी मृत्युके पश्चात् कागजी कार्रवाई शुरू करनेवाले ही थे कि देखा मरीज रामनाम-संकीर्तन कर रहा है और उसकी हृदय-गति फिरसे सामान्य हो गयी है।'

उन्हें जीवनदान मिलना हमारे लिये अपार हर्षका विषय था। सुबहतक उनको अच्छी तरहसे होश आ गया था। मुझसे अत्यधिक आत्मीयता होनेके कारण उस घटनाका जो वर्णन उन्होंने मुझसे किया, वह अद्‌भुत, रोमांचक और अविस्मरणीय था।

शिवशंकरजी ने बताया कि संकीर्तन करनेसे पहले उन्हें दो काली छायाकी तरह पुरुष दिखायी दिये, जो उन्हें पकड़ने आ रहे थे, उसीसे डरकर उन्होंने मुझे भजन गानेके लिये कहा। परंतु मैंने भी दैवयोगसे भजन न गाकर रामनाम-संकीर्तन चालू कर दिया। उसके पश्चात् उनके सूक्ष्म शरीरको उन दो यमदूतोंने यमपाशमें बाँध लिया और उन्हें कई मार्गोंसे, बड़ी ही तेज गतिसे ले जाने लगे। उन्होंने बताया कि कभी मार्गमें लम्बी सुरंग आती थी, कभी खूब गर्म हवा लगती थी, कभी ठंडक और कभी पानीके फौव्वारे मिलते थे। अजीब तरहके फूल-पौधे उन्होंने देखे, कई फूल तो इंसान जितने लम्बे थे, रास्तेमें पितृलोक भी उन्होंने देखा। तभी उन्हें एक दिव्य पुरुष सफेद वस्त्र पहने हुए मार्गमें मिले। उन्होंने उन यमदूतोंको रोककर खूब डाँटा और कहा कि अन्तिम समयमें हरि-कीर्तन करनेवालेको लानेका काम विष्णुदूतोंका था, तुमलोग वहाँ कैसे पहुँच गये? फिर उस दिव्य पुरुषने शिवशंकरजीसे कुछ माँगनेको कहा, तब शिवशंकरजीने कहा कि मुझे कुछ नहीं चाहिये, दिव्य पुरुषने कहा कि आनन्द तो आपको चाहिये न, तब शिवशंकरजी ने कहा—'हाँ, आनन्द तो चाहिये।' फिर उसने कहा कि आप चाहें तो मेरे साथ दिव्य लोकोंमें चल सकते हैं या वापस भी जा सकते हैं। तब शिवशंकरजीको अपने परिवारका ध्यान आया और उन्होंने उस दिव्य पुरुषसे कहा कि पुत्रोंकी शिक्षा-दीक्षा अभी बाकी है, अत: मुझे वापस ही भेज दीजिये। तब उसने तथास्तु कहते हुए उन्हें सुला दिया और जब आँखें खुलीं तो आई.सी.यू. में ऑपरेशन-टेबलपर अपने आपको रामनाम-संकीर्तन करते हुए पाया।

तब मैंने उन्हें बताया कि रामनामके कीर्तनके फलस्वरूप आपकी अकाल-मृत्यु टल गयी और फिरसे जीवन प्राप्त हुआ है। मेरा रोम-रोम आज भी उस घटनाको याद करके सिहर जाता है। शिवशंकरजी वर्तमानमें करीब ६० वर्षके हैं और वे सपरिवार सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

—अमित गुप्ता

पढ़ो, समझो और करो

(१)

'रहिमन हाय गरीब की'

परमपिता परमात्माके दरबारमें देर है किंतु अँधेर नहीं। देरका भी भान केवल उसीको होता है, जिसे ईश्वरके विधानपर भरोसा नहीं है, अन्यथा वहाँ सभी भले-बुरे कर्मोंका फल उचित समयपर, उचित मात्रामें एवं उचित तरीकेसे ही मिलता है। वहाँ पक्षपातकी तो लेशमात्र भी गुंजाइश नहीं है। नीचे मैं अपने जीवनकी एक सच्ची, पर अति विचित्र घटनाका वर्णन करने जा रहा हूँ। यह घटना जिस शहर एवं मुहल्लेसे सम्बन्धित है, वहाँ का बच्चा-बच्चा हमारे कथनका साक्षी है।

बात सन् १९७२ ई० की है, मैंने सरकारसे ऋण लेकर बिहारके बक्सर शहरके सिविल लाइन मुहल्लेमें दो कमरेका एक छोटा-सा घर बनवाया था। मैं उस समय पटना सचिवालयके कृषि विभागमें कार्यरत था। बक्सरमें घर बनवानेका मेरा एकमात्र उद्देश्य अपने पूज्य माता-पिता (जो अब इस संसारमें नहीं रहे)-के आदेशका अनुपालन ही था। मैं बचपनसे ही उन लोगोंकी हर इच्छाको आदेश ही माना करता था, जैसा कि मेरे स्वर्गीय दादाजीने मुझे सिखाया था। उन लोगोंकी हार्दिक इच्छा थी कि अपने जीवनके अन्तिम कालमें हम लोग गंगातटपर वास करें।

घर बन जानेके बाद जब मैं उसके चारों ओर चहारदीवारी बनवा रहा था तो एकाएक मेरे दिमागमें एक बात यह आयी कि यदि पीछेमें थोड़ी-सी जमीन और ले लिया होता तो पीछेवाली गलीसे होकर बाहर निकलनेका एक और रास्ता मिल जाता, जिससे होकर जानेसे गंगातटकी दूरी में लगभग २०० मीटरकी कमी आ जाती। इसी बातको ध्यानमें रखते हुए मैंने जमीनके मालिकसे बातकर उस अतिरिक्त टुकड़ेको भी अपनी चहारदीवारीके अन्दर ले लिया। हम दोनोंमें यह तय हुआ कि मात्र पाँच सौ रुपयेमें उस टुकड़ेको भी मेरे नाम रजिस्ट्री कर दिया जायगा।

उपर्युक्त तय हुई शर्तके अनुसार लगभग दो सप्ताहके बाद जब मैंने जमीनके मालिकको कथित पाँच सौ रुपया देना चाहा तो उन्होंने कहा कि पीछेवाली पूरी जमीन (जिसमें घेरेके अन्दर ली गयी जमीन भी शामिल थी) एक पण्डितजीको बेच दी जा चुकी है। अब तो मेरे पैरों-तलेकी जमीन खिसकने लगी, लेकिन तत्काल मुझे एक उपाय सूझा कि पण्डितजीसे ही बातकर क्यों न उन्हींसे अपने नाम रजिस्ट्री करा ली जाय। बात बन गयी और पण्डितजी मेरी बातसे सहमत हो गये। मैंने तुरंत उन्हें रुपया देकर उस जमीनको अपने नाम लिखवा लिया।

अब पण्डितजीको लोभ हो गया और तुरंत फिर पैसा माँगने लगे। मैंने कहा कि आप तो रजिस्ट्री करनेके पहले ही रुपया पा चुके हैं। उन्होंने मुझसे पूछा कि इस बातका कौन गवाह है कि आप जमीनकी कीमत दे चुके हैं? मैंने कहा कि आप स्वयं लिख चुके हैं कि कीमत पानेके बाद मैं रजिस्ट्री कर रहा हूँ। इसपर उन्होंने कहा कि वह सब मैं नहीं जानता, आपको मुझे जमीनकी कीमत पुनः चुकानी होगी। उन्होंने कहा कि मैं शाकलदीपी पण्डित हूँ और मारण-मन्त्रमें दक्ष भी हूँ, यदि आप ऐसा नहीं करेंगे तो आपका यह छोटा बच्चा एक सप्ताहके बाद नहीं दीखेगा। मैंने साफ शब्दोंमें कह दिया कि यदि मैं झूठ बोलता हूँगा तभी आपका शाप मुझपर लग सकता है, अन्यथा मुझे परमपिता परमात्माके विधानपर पूरा भरोसा है। आप मेरा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। उन्होंने मुझे डराते हुए कहा कि आजसे मैं पूजा आरम्भ कर रहा हूँ।

पण्डितजीने मेरा अनिष्ट करनेके लिये प्रयास तो बहुत किया, परंतु मैं निरपराध था, भगवान्‌के सहारे था, इसलिये हुआ उलटा ही। मुझ गरीबकी हाय भगवान्‌से न सही गयी—'***रहिमन हाय गरीब की हरि सों सही न जाय***' की उक्ति सार्थक हुई। मात्र तीन दिनोंकेअन्दर उनके एकमात्र कमाऊ पुत्रको दिलका दौरा पड़ा और वह देखते-ही-देखते भगवान्‌को प्यारा हो गया। इस घटना को देखकर पूरा मुहल्ला सन्न रह गया।

इस घटनासे दो सीखें और मिलती हैं। पहली यह

कि 'जैसी करनी वैसी भरनी।' और दूसरी—

'जाको राखे साइयाँ, मार सके न कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥'

—आर० एन० लाल

(२)

चोरके प्रति भी सद्भावना

गुजरातके सौराष्ट्र प्रान्तमें भावनगर नामका एक बड़ा शहर है, जो साहित्य-संगीत आदि ललित कलाओंका संस्कारी शहर माना जाता है। यहाँ सौराष्ट्रका प्रथम कॉलेज शामलदास कॉलेज बना था, जिस कॉलेजमें हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजीने भी अभ्यास किया है।

यह भावनगर आजादीके पहले राज्य स्टेट था और कृष्णकुमारजी उसके महाराजा थे। कृष्णकुमारजी बड़े प्रतापी और प्रजावत्सल महाराजा थे। वे प्रजाके सुख-दुःख स्वयं देखते, सुलझाते थे। उनकी प्रजामें बहुत बड़ी चाहत थी। सर प्रभाशंकर पट्टणीजी उनके दीवान थे। वे आम लोगोंमें बहुत प्रिय थे और '**वज्रादपि कठोरानि मृदूनि कुसुमादपि**' थे। वे कवि भी थे। उन्होंने गुजरातीमें कविता भी लिखी है—**उघाड़ी राखजो बारी**······यानी अपने हृदयकी खिड़की खोलकर रखना।

एक बार दीवान सर प्रभाशंकर पट्टणीजी राज्यके कामके लिये बाहर गये हुए थे। उनके महलमेंसे गहनोंकी चोरी हो गयी। पुलिस अधिकारीने जाँच की और महलके पुराने कर्मचारीको पकड़कर जेल में बन्द कर दिया। चोर कर्मचारीकी पत्नी पट्टणीजीके पास आकर, पाँव पकड़कर रोने लगी। साब! मेरे पतिको पुलिस अधिकारी पकड़कर ले गये, मैं आपके पाँव पकड़ती हूँ। आप उन्हें छुड़वा दीजिये।

पट्टणीजीने एक पत्र लिखकर अधिकारीको चोरके साथ बुलाया। पट्टणीजीने चोरको छोड़ देनेका हुकुम दिया। पट्टणीजीने कहा—इसको छोड़ दो, यह मेरा पुराना विश्वासी नौकर है, यह कभी चोरी नहीं करेगा। अधिकारीको आश्चर्य हुआ, लेकिन पट्टणीजीके हुकुमसे चोरको छोड़ दिया। चोर पट्टणीजीके पाँवमें पड़कर गिड़गिड़ाकर बोला—साब! मुझे क्षमा करें। आप ईश्वर-जैसेके मन्दिरमें मैंने चोरी की। ऐसा कहकर चोरने पट्टणीजीके पाँवमें सब गहने रख दिये। पट्टणीजीने कहा—तूने साफ हृदयसे सच्ची बात बता दी, इसलिये अब तू पापमुक्त हो गया। ले तिजोरीकी चाभी और जहाँसे गहने लिये थे, वहाँ रख दे। ऐसे थे सर दीवान प्रभाशंकर पट्टणीजी, जिन्होंने चोरके प्रति भी सद्भावना रखी और अपने जीवनमें भी अपनी कविता चरितार्थ की—'**उघाड़ी राखजो बारी**······।' **—रतिभाई पुरोहित**

(३)

'अतिथिदेवो भव'

बात विगत वर्ष २६ जनवरीकी है। मेरे दामाद अपने परिवारके साथ सर्दियोंकी छुट्टियोंमें दिल्ली घूमने गये थे। पाँच-छः दिन बाद उन्होंने आगरा घूमनेका कार्यक्रम बनाया। वे अपनी गाड़ी ले गये और उसीसे सुबह ९-१० बजेके लगभग आगराके लिये निकल गये। वे आगराके लिये एक्सप्रेस रोडसे जा ही रहे थे कि नौझील नामक स्थानसे लगभग ३० कि०मी० आगे एक पुलियाके पास जानेपर अचानक गाड़ी रुक गयी। गाड़ीमें ऐसी खराबी आ गयी, जो उनकी समझमें नहीं आ रही थी। उसी समय वहाँसे पुलिस पैट्रोलिंगकी गाड़ी भी निकल रही थी। उन्होंने वहाँ गाड़ी खड़े होनेका कारण पूछा। जब उन्हें बताया गया कि गाड़ी खराब हो गयी है तो उन्होंने एक मैकेनिकका फोन नम्बर उन्हें दिया। फोन करनेपर मैकेनिकने कहा कि वहाँ पहुँचनेमें डेढ़-दो घण्टे लग जायँगे। परंतु वह दो घण्टे बाद भी नहीं पहुँचा, ऐसेमें उनकी बेचैनी बढ़ने लगी। उसी समय वहाँ एक रोड सुरक्षा गार्ड भी गस्त करता आ पहुँचा। जब उसे भी गाड़ी खराब होनेके बारेमें बताया तो उसने एक दूसरे मैकेनिकका नम्बर दिया। जब उस मैकेनिकको फोन किया गया तो वह क्रेनसहित लगभग आधे घण्टे बाद पहुँच गया और गाड़ीको लेकर वापस नौझीलकी ओर चल पड़ा। वहाँपर गाड़ी खोलनेपर मैकेनिकने बताया कि इसमें जो सामान पड़ेगा, वह हमारे पास नहीं है। कम्पनीसे ही पूछकर मँगाना पड़ेगा। कम्पनीसे पूछनेपर पता चलता कि इस गाड़ीका सामान दिल्ली या

आगरामें ही मिल सकता है।

अबतक अँधेरा भी बहुत हो चुका था, नयी जगह थी, अब कहाँ ठहरेंगे। क्या किया जाय, इसी उहापोहमें थे कि उसी समय वर्कशापके मालिक श्रीसद्दामजी भी आ गये। उन्हें जब सारी बात मालूम हुई तो उन्होंने कहा कि घबड़ानेकी कोई जरूरत नहीं है, मैं आपके ठहरनेका इन्तज़ाम एक अच्छे परिवारमें कर देता हूँ। उसने अपने एक मित्र पाठकजी, जिनकी टूर एण्ड ट्रैवेल एजेन्सी भी है तथा उस क्षेत्रके नामी गिरामी व्यक्ति भी हैं, को फोन किया और उन्हें सारी परिस्थितिसे अवगत करवा दिया। थोड़ी ही देर बाद श्रीपाठकजी गाड़ी लेकर आये और उन्हें अपने साथ अपने घर ले गये। जैसा कि दामादने बताया कि हम बहुत डरे हुए थे। परंतु जब हम उनके घर पहुँचे तो उनके घरके सभी सदस्य बड़ी प्रसन्नताके साथ हमसे मिले तथा सभीका परिचय भी कराया। हमने भी अपना परिचय उन्हें दिया। हमें हिमाचल प्रदेशका सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और कहा कि आप निःसंकोच इसे अपना ही घर समझकर आनन्दपूर्वक रहें। उन्होंने बहुत ही अच्छा आदर-सत्कार किया।

दूसरे दिन वर्कशापके मालिकने मैकेनिकको गाड़ीका सामान लानेके लिये दिल्ली भेज दिया। उस दिन रविवार था, मार्केट बन्द था, फिर भी मैकेनिकने जैसे-तैसे कुछ दुकानोंपर उस सामानके बारेमें पूछा। वहाँ वह सामान नहीं मिला। उसके बाद वह मैकेनिक गाजियाबाद गया, वहाँपर भी कई दुकानोंपर पूछनेके बाद एक दुकानदारने पुरानी गाड़ीसे वह सामान निकालकर उस मैकेनिकको दे दिया। ये सारी बातें मैकेनिकने उन्हें तब बतायीं, जब वे गाड़ी लेने वर्कशापपर गये।

उधर जिस घरमें हम ठहरे थे, उन्होंने हमें कहा कि जबतक आपकी गाड़ी ठीक होती है, हम आपको वृन्दावन घुमा लाते हैं। ट्रैवेल एजेंसी होनेके कारण उनके पास १५-२० गाड़ियाँ थीं। उन्होंने अपना भानजा हमारे साथ भेजा, जो हमें सबसे पहले बरसाना राधाजीके मन्दिरमें ले गया। उसके बाद गोवर्धन और मुख्य-मुख्य मन्दिरोंके साथ बाँकेबिहारीके मन्दिरमें भी ले गया। सभी जगह बड़े प्रेमके साथ दर्शन करवाये और मन्दिरोंके बारेमें जानकारी दी। अन्तमें प्रेममन्दिरके दर्शन करवाये। दर्शन करते-करते शामके लगभग आठ बज गये। उनके घरसे भी फोन आ गया कि अब बहुत अँधेरा हो गया है, वापस आ जाओ।

लगभग साढ़े नौ बजे सबलोग वापस घर पहुँचे। दूसरे दिन जब वे वर्कशाप पहुँचे तो मैकेनिकने कहा कि अभीतक गाड़ी पूर्णरूपसे ठीक नहीं हुई है। अभी दो-तीन घण्टे लग जायँगे। लगभग एक बजे गाड़ी ठीक हुई, अब हमें वापस दिल्लीको प्रस्थान करना था। वर्कशापके मालिकने इतनी आत्मीयता दिखायी कि उन्होंने वही पैसे लिये, जो सामान खरीदनेके लिये लगे थे। साथ ही देरीके लिये क्षमा-याचना भी की। जहाँ उन्हें ठहराया गया था, उन्होंने भी किसी प्रकारके पैसे नहीं लिये। वृन्दावन घुमानेके पैसे उन्हें जबरदस्ती दिये। उनकी आत्मीयता और प्रेमभावके आगे वे नतमस्तक हो गये। जैसा कि दामादने बताया कि जब हम उनसे विदा हुए तो उन्होंने हमें कुछ-न-कुछ उपहार भी दिये तथा विदा होते समय ऐसे मिले कि हम बहुत पुराने परिचित बिछड़ रहे हों।

जैसा हम उस राज्यके बारेमें सुनते और अखबारोंमें पढ़ते रहते हैं, ठीक उसके विपरीत ही हमें दोनों (वर्कशापवाले एवं पाठकजीके परिवारवाले) मिले। ऐसी मेहमाननवाजी—ऐसा आतिथ्य-सत्कार आज बहुत कम देखने-सुननेको मिलता है। आज भी वे लोग फोनपर आपसमें बात करते रहते हैं। वर्कशापका मालिक भी कई बार गाड़ीके बारेमें पूछता रहता है।

बेटीने बताया कि मैं कई बार सोचती थी कि वृन्दावन जाना है, पर कार्यक्रम नहीं बनता था। परंतु इस घटनाके बारेमें जब हम सोचते हैं तो आँखोंमें आँसू आ जाते हैं और सोचती हूँ कि बाँकेबिहारीजीको छोड़कर हम आगरा जा रहे थे। बाँकेबिहारीजीने ही हमारा रास्ता इस बहानेसे अपनी ओर मोड़कर हमें अपने धाम वृन्दावनमें बुला लिया और हम वृन्दावनकी पावनभूमि एवं सभी मन्दिरोंके दर्शनकर कृतार्थ हो सके।

—लायकराम वासिष्ट

मनन करने योग्य

भगवद्-विश्वास

विरक्त सन्त, परम पूज्य पं० श्रीशिवरामकिंकर योगत्रयानन्दजी महाराज शास्त्रोंके उद्भट विद्वान् थे। उनका पाण्डित्य अप्रतिम था। वे आत्मप्रकाशनसे सर्वथा दूर रहते थे। एक समयकी बात है, अर्थाभावके कारण पं० श्रीशिवरामकिंकरजीके घर तीन दिनोंतक चूल्हा नहीं जला। सारा परिवार भूखसे व्याकुल हो रहा था। इसपर भी अध्यापनकार्य बन्द नहीं हुआ और विद्यार्थी अध्ययनके लिये आते रहे। पं० श्रीशिवरामकिंकरजी भी आनन्द और उत्साहके साथ विद्यार्थियोंको पढ़ाते, शास्त्रोंकी विस्तृत व्याख्या करते और ज्ञान-चर्चामें मस्त रहते। किसीको जरा भी भान न हुआ कि पण्डितजी परिवारसहित तीन दिनसे निराहार हैं, क्योंकि उनके चेहरेपर विषाद और उदासीनताकी छायातक न थी।

आज तीसरा दिन था। सदाकी भाँति आज भी पण्डितजी विद्यार्थियोंको पढ़ानेमें व्यस्त हो गये। उन्हीं छात्रोंमें नरेन्द्रदत्त भी थे। इसी समय डाकिया एक तार लेकर आया, जो पण्डितजीके नामसे था। पण्डितजीने तारको खोला और उसे पढ़ने लगे। पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बह चली। वे बड़ी देरतक उस तारको मस्तकसे लगाये रहे।

यह अनोखा दृश्य देखकर नरेन्द्रदत्तने कौतूहलपूर्वक पूछा—'बाबा! सामान्य कारणसे हिमालय नहीं हिला करता। आज मैं आपकी विचित्र दशा देख रहा हूँ, जो आपकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही है और आप नित्य प्रफुल्लित रहनेवाले धीर पुरुष होते हुए भी शोकाकुल दिखायी दे रहे हैं, मुझे आश्चर्य है। आपको इसका रहस्य समझाना ही होगा।'

पण्डितजीने तार नरेन्द्रदत्तके हाथमें दे दिया। वह काशीसे आया था। किसी अपरिचित शिवभक्त जमींदारने दस रुपये तारसे भेजे थे और लिखा कि 'हमारे घरमें शिवमूर्ति स्थापित है। रात्रिमें शिवजीने मुझसे कहा कि मैं तीन दिनसे भूखा हूँ। मैंने तुम्हारी पूजा ग्रहण नहीं की है, क्योंकि मेरा परम भक्त पं० शिवरामकिंकर बराहनगरमें रहता है, वह तीन दिनसे उपवास कर रहा है। उसके पास अन्नादि खरीदनेके लिये रुपये नहीं हैं। तुम उसको तारसे शीघ्र कुछ रुपये भेज दो। उसके भोजन करनेके बाद ही मैं भोजन करूँगा। अत: मैं भगवान् शिवजीकी आज्ञासे ये रुपये भेज रहा हूँ।'

इस अद्भुत घटनाको पढ़कर नरेन्द्रदत्तको महान् आश्चर्य हुआ। शिवजीकी कृपाका अद्भुत चमत्कार देखकर उनकी आँखोंसे भी प्रेम-नीर प्रवाहित होने लगा। वे रुँधे हुए गलेसे बोले—'बाबा! मैं भी तो आपका ही शिष्य हूँ। आपने जब तीन दिनसे कुछ भी भोजन नहीं किया तो मुझे क्यों नहीं बतलाया। मैं आपका सब प्रबन्ध कर देता। आप भूखे पेट पढ़ाते रहे और मैं पढ़ता रहा, यह तो महान् अपराध हो गया। इस अपराधका तो मुझे बड़ा भारी दण्ड मिलना चाहिये। मैं आपका दास हूँ, आपकी सन्तान हूँ एवं मुझपर आपका अहैतुक स्नेह है, फिर आपने मुझसे यह बात गुप्त क्यों रखी?' ऐसा कहते हुए वे गुरुजीके चरणोंपर गिर पड़े और फूट-फूटकर रोने लगे।

नरेन्द्रदत्तके प्रेमको देखकर पं० श्रीशिवरामकिंकरजी गद्गद हो गये। उन्होंने नरेन्द्रदत्तको गले लगाकर कहा—'नरेन्द्र! घबराओ मत। जब हमारे पिता विद्यमान हैं, तब हम अपने पुत्रोंसे क्यों याचना करें? हमारे परम पिता, परम सुहृद्, सर्वज्ञ, भगवान् शंकरको हमारी सबसे अधिक चिन्ता है। हम लोगोंको भोले बालककी तरह सदैव उनके आश्रित होकर निर्भय एवं निश्चिन्त रहना चाहिये। जब वे सर्वज्ञ सदैव सर्वत्र विद्यमान हैं, तब फिर हम अपने अभावकी बात और किससे कहें? उनके रहते हुए किसी दूसरेसे याचना करना उनका अपमान करना है।'

'आचारः परमो धर्मः'

आजकल पूरे विश्वमें 'कोरोना' नामक एक नयी बीमारीका आतंक व्याप्त है। कई देश इस बीमारीसे अत्यधिक त्रस्त हैं। हजारों-लाखोंकी संख्यामें वहाँ लोग संक्रमित हो गये हैं। इस बीमारीसे प्रतिदिन कितने ही लोगोंकी मौत भी हो रही है। 'कोरोना' के विषयमें मुख्य बात यह है कि इसका कोई इलाज उपलब्ध नहीं है तथा यह बीमारी छूतकी है। एक संक्रमित व्यक्तिके सम्पर्कसे दूसरे लोगोंमें इसका संक्रमण तुरन्त होता है। इसी कारण यह बीमारी जोरसे फैल गयी है। अपने देश भारतमें भी इसका पदार्पण होनेके कारण चिन्ता होनी स्वाभाविक है।

अपने प्रधानमन्त्री श्रीमोदीजीने भी देशकी जनताको बचानेका सावधानीपूर्वक अथक प्रयास किया, पूरे देशमें लॉकडाउन कर दिया तथा देशवासियोंको बीमारीसे बचनेके उपाय सुझाये।

इस बीमारीसे बचनेके सर्वसम्मत उपाय हैं—किसीको छुआ न जाये, किसीसे हाथ नहीं मिलाया जाय, हाथको बार-बार धोया जाये, किसीका जूठा नहीं खाया जाय। बाहरसे आया हुआ व्यक्ति घरके अन्दर हाथ-पैर धोकर ही प्रवेश करे। पाद-त्राण (जूते आदि) घर अथवा कमरेमें न लाये जायँ, कारण इससे इंफैक्शन फैल सकता है।

भारतीय-संस्कृति एवं सनातन-धर्ममें अपने ऋषि-महर्षियोंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञासे ये बातें पहले ही बता दी थीं। इसीलिये जहाँ निषिद्धाचार होता है ऐसे देशोंमें जानेका भी शास्त्रोंमें निषेध किया गया है। अपने शास्त्र कहते हैं—'**आचारः परमो धर्मः**', आचार-विचार हमारा प्रधान धर्म है। आचारका मुख्य अंग है शौचाचार। शौचाचारका तात्पर्य है कि हम स्वयंको निरन्तर पवित्र रखें अर्थात् अपने हाथ धोनेके बाद भोजन करें, कोई भी शुभ कार्य पूजा-पाठ आदि हाथ धोकर ही करें। हाथ झूठा होनेपर उसे तत्काल धो लें। गले मिलने एवं हाथ मिलानेकी परम्परा पाश्चात्य देशोंसे हमलोगोंने सीखी। अपनी संस्कृति है—दूरसे नमस्कार, प्रणाम, जै रामजी, जै गोपाल आदिके द्वारा दूसरोंका अभिवादन किया जाय। जूते आदि घरके दरवाजेके बाहर खोले जायँ, भीतर नहीं ले जायँ। स्पर्शास्पर्शका विचार भी पुरातन समयसे रहा है, हम बिना कारण एक-दूसरेको छूते नहीं परन्तु आजकी स्थिति एकदम विपरीत है। भारतसे अंग्रेज तो चले गये परन्तु अंग्रेजियत रह गयी। हाथ धोने आदिकी परम्परा समाप्त हो गयी। एक-दूसरेका जूठा खानेसे कोई परहेज नहीं रहा। पाश्चात्य देशोंकी सभ्यता-संस्कृतिको हमने आँखें मूँदकर अपना रखा है, इसी कारण 'कोरोना' जैसी महामारीसे बचनेके लिये देशवासियोंको उपाय सुझाये जा रहे हैं और विशेषरूपसे प्रयास किया जा रहा है कि सब लोग इसका पालन करें परन्तु यदि हम अपनी संस्कृतिके अनुसार आचार-विचारकी शिक्षा देशके बच्चोंको प्रदान करनेकी व्यवस्था करें तथा इसे स्वयं भी दृढ़तासे अपनायें तो इस प्रकारकी आतंकपूर्ण-भयावह परिस्थितियोंके प्रभावोंसे बच सकेंगे। अपने धर्मके अनुसार संयमित जीवन-यापन करनेसे लोक-परलोक दोनों सुधरेंगे।

प्राणिमात्रके कल्याणके लिये परमात्मप्रभुसे यही प्रार्थना है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

इस विश्वमें सब सुखी हों, सब नीरोगी हों, सब कल्याण-मंगलोंका दर्शन करें, कोई भी लेशमात्र दुःखका भागी न हो।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

कठिनाइयोंसे—विपत्तियोंसे सब त्राण पायें, सब मंगलोंका दर्शन करें, सब सद्बुद्धिको प्राप्त हों और सब सर्वदा सर्वत्र आनन्द-लाभ करें। **—सम्पादक**